उमराव जान 'अदा'

भारत ज्ञान विज्ञान समिति

Books.Jakhira.com

नव जनवाचन आंदोलन

इस किताब का प्रकाशन भारत ज्ञान विज्ञान समिति ने
'सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट' के सहयोग से किया है।
इस आंदोलन का मकसद आम जनता में
पठन-पाठन संस्कृति विकसित करना है।

उमराव जान 'अदा' मिर्जा हाजी 'रूस्वा'	***Umraow Jan 'Ada'*** **Mirza Hadi 'Ruswa'**
हिंदी रूपांतरण बीना गुप्ता	***Hindi Adaptation*** **Beena Gupta**
पुस्तकमाला संपादक तापोश चक्रवर्ती	***Series Editor*** **Taposh Chakravorty**
कॉपी संपादक डॉ. इरफ़ाना	***Copy Editor*** **Dr. Irfana**
रेखांकन सुनयना बी. पांडे	***Illustration*** **Sunayana B. Pande**
कवर एवं ग्राफिक्स जगमोहन	***Cover & Graphics*** **Jagmohan**
प्रथम संस्करण दिसंबर, 2007	***First Edition*** **December, 2007**
सहयोग राशि 30 रुपये	***Contribution*** **Rs. 30**
मुद्रण आकृष्ट ग्राफिक्स गुड़गांव, हरियाणा	***Printing*** **Aakrisht Graphics** **Gurgaon, Haryana**

Publication and Distribution

© Bharat Gyan Vigyan Samiti

Basement of Y.W.A. Hostel No. II, G-Block, Saket , New Delhi - 110 017
Phone : 011 - 26569943, Fax : 91 - 011 - 26569773
Email : bgvs_delhi@yahoo.co.in, bgvsdelhi@gmail.com
website: www. bgvs.org

BGVS DECEMBER 2007 2K 3000 NJVA 0153/2007

Books.Jakhira.com

उमराव जान 'अदा'

मिर्जा हादी 'रुस्वा'

Books.Jakhira.com

मिर्जा हादी 'रुस्वा' : एक परिचय

1899 में प्रकाशित उर्दू में लिखे गए उपन्यास उमराव जान 'अदा' के लेखक मिर्जा हादी 'रुस्वा' मूलतः शायर थे। वे उर्दू के अलावा हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, अरबी, फारसी, हिब्रू और ग्रीक भाषाएं भी जानते थे। उनका जन्म 1857 या 58 में लखनऊ में हुआ था। 1885 में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातक किया और टाम्स रुड़की, कॉलेज से इंजीनियरिंग में डिप्लोमा भी हासिल किया। शुरू में उन्होंने कोटा बलुचिस्तान रेलवे में ओवरसियर की नौकरी की लेकिन कुछ दिनों बाद वापस लखनऊ आ गए, जहां क्रिश्चियन कालेज में अरबी-फारसी के व्याख्याता नियुक्त हुए। 1920-21 में कालेज की नौकरी छोड़कर हैदराबाद चले गए, वहां शिक्षा विभाग में अनुवादक की नौकरी मिली। उस दौरान उन्होंने दर्शनशास्त्र की कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद किया। 21 अक्तूबर 1931 को हैदराबाद में उनका निधन हुआ।

उनकी गजलों का संकलन अबतक उर्दू में भी प्रकाशित नहीं है जबकि पांच उपन्यास और दर्जनों अनूदित पुस्तकें उनके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गई थीं। उमराव जान 'अदा' उनका सबसे लोकप्रिय उपन्यास है। 'रुस्वा' का दावा है कि यह लखनऊ की एक उनकी समकालीन तवायफ उपराव 'जान' की सच्ची आत्मकथा है। वह 'अदा' तखल्लुस के साथ शायरी भी करती थी।

Books.Jakhira.com

उमराव जान 'अदा'

एक

बाप-दादा का नाम लेकर अपना बड़प्पन जताने से क्या फायदा! और सच तो यह है कि मुझे याद भी नहीं। हां, इतना जानती हूं कि फैजाबाद में शहर के किनारे किसी मुहल्ले में मेरा घर था। मेरा मकान पक्का था। आसपास में कुछ कच्चे मकान थे, कुछ झोंपड़े थे, खपरैलें थीं। रहनेवाले भी कुछ ऐसे-वैसे लोग ही होंगे, कुछ भिश्ती, नाई, दोबी, कहार। हमारे मकान के सिवा एक ऊंचा घर इस मुहल्ले में और भी था। इस मकान के मालिक का नाम दिलावर खां था।

मेरे अब्बा बहूबेगम (अवध के नवाबों की प्रथम महारानी) साहिबा के मकबरे पर नौकर थे। मालूम नहीं काहे में नाम था, क्या तनखा थी। इतना याद है कि लोग उनको जमादार कहते थे। मेरे एक छोटा भाई था। दिन-भर मैं उसे खिलाया करती थी और वह भी मुझसे इस कदर हिला हुआ था कि दम-भर के लिए न छोड़ता था।

अब्बा जब शाम को नौकरी पर से आते थे, उस वक्त की खुशी हम भाई-बहन की कुछ न पूछिए! मैं कमर से लिपट गई, भाई अब्बा-अब्बा करके दौड़ा, दामन से चिमट गया। अब्बा की बाछें मारे खुशी के खिली जाती हैं। मुझको चुमकारा। पीठ पर हाथ फेरा। भैया को गोद में उठा लिया। प्यार करने लगे। मुझे खूब याद है कि कभी खाली हाथ घर न आते थे। कभी भुट्टे हाथ में हैं, कभी बताशों या तिल के लड्डुओं का दोना। हिस्से लगाए जाते। उस वक्त भाई-बहन में किस मजे की लड़ाइयां होती थीं– वह भुट्टा छीन लिए जाता है, मैं मिठाई

का दोना हथिया लेती हूं। अम्मां सामने खपरैल में बैठी खाना पका रही हैं। अब्बा उधर आके बैठे नहीं, इधर मेरे तकाजे शुरू हो गए–"अब्बा, अल्ला, गुड़िया नहीं लाए", "देखों, मेरे पांऊं की जूती कैसी टूट गई है तुमको ख्याल ही नहीं रहता", "लो मेरा हार सुनार के यहां से बनके नहीं आया, छोटी खाला की लड़की की दूध-बढ़ाई है, भई मैं क्या पहनके जाऊंगी", "चाहे कुछ भी हो, ईद के दिन तो मैं नया जोड़ा पहनूंगी, हां मैं नया जोड़ा पहनूंगी।"

जब अम्मां खाना पका चुकतीं, मुझे आवाज देतीं। मैं जाती और रोटी की टोकरी और सालन की पतीली उठा लाती, दस्तरखान बिछाती। अम्मां खाना निकालतीं, सब सर जोड़के खाना खाते, खुदा का शुक्र करते। अब्बा एशा की नमाज (रात की नमाज।) पढ़के सो रहते। सुबह तड़के उठकर नमाज पढ़ते। उस वक्त मैं उठ बैठती और फिर मेरी फरमाइशें शुरू हो जातीं। अब्बा वजीफा (नमाज के बाद खुदा के नाम का जाप।) पढ़ते हुए कोठे पर चढ़ जाते, कबूतरों को दाना देते, एक-दो को हवा में उड़ाते। इतने में अम्मां झाड़-बुहार से फरागत करके खाना तैयार कर लेती थीं, क्योंकि अब्बा दिन चढ़ने से पहले ही नौकरी पर चले जाते थे।

अब्बा के चले जाने पर अम्मां सीना-पिरोना लेके बैठ जातीं। मैं भैया को लेकर कहीं मुहल्ले में निकल जाती या दरवाजे पर इमली का पेड़ था, वहां चली जाती। हमजोली लड़के-लड़कियां जमा हो जाते, मैं भैया को बिठाके खुद खेल में लग जाती। हाय, क्या दिन थे, किसी बात की फिक्र ही न थी। अच्छे-से-अच्छा खाती थी, अच्छे-से-अच्छा पहनती थी, नाक-नक्शा भी खैर कुछ ऐसा बुरा न था। नाजुकों में मेरा शुमार न तब था, न अब है। मैं पहनती लाल गुलबदन का पाजामा छोटे पायचों का, नैनू की कुर्ती, तंजब की ओढ़नी, हाथों में चांदी की तीन-तीन चूड़ियां, गले में हार, नाक में सोने की नथनी, कान अभी ताजे-ताजे छिदे थे, उनमें सिर्फ नीले डोरे पड़े थे, सोने की बालियां बनने को गई थीं।

मेरी शादी मेरी फूफी के लड़के के साथ ठहरी हुई थी। मंगनी नौ बरस के सिन में हो गई थी। अब उधर से शादी का ताकाजा था। मेरी फूफी नवाबगंज में ब्याही हुई थीं। हमारे फूफा जमींदार थे। फूफी का घर हमारे घर से ज्यादा भरा-पूरा था। मंगनी होने से पहले मैं कई बार अम्मां के साथ वहां जा चुकी थी। वहां के कारखाने ही और थे। मकान तो कच्चा था मगर था बहुत लंबा-चौड़ा। गाय, बैल, भैंस बंधी थीं। घी-दूध की इफरात थी। अनाज की कसरत थी। भुट्टों की फसल में टोकरियों भुट्टे चले आते थे। ईख के ढेर लगे रहते थे। कोई कहां तक खाता!

मैंने अपने दूल्हा को, यानी जिसके साथ मेरी शादी ठहरी थी, देखा था, बल्कि उसके साथ खेली थी। अब्बा पूरा जहेज का सामान कर चुके थे, कुछ रुपए की फिक्र थी। रजब के महीने में शादी तय हुई थी। रात को अब्बा-अम्मां में जब मेरी शादी की बातें होती थीं, मैं चुपके-चुपके सुना करती थी और दिल-ही-दिल में खुश होती थी। गर्ज कि मैं अपनी हालत में खुश थी।

दो

दिलावर खां का मकान हमारे घर से थोड़ी दूर पर था। मुआ डकैतों से मिला हुआ था। लखनऊ में बरसों कैद रहा। न मालूम किसी सिफारिश से छूट आया था! अब्बा से सख्त दुश्मनी रखता था। वजह यह थी कि जब फैजाबाद से गिरफ्तार हुआ तो चाल-चलन की तहकीकात के लिए मुहल्ले से लोग तलब हुए। उनमें अब्बा भी थे। बेचारे यूं भी दिल के सादे और जबान के सच्चे थे। उस पर तुर्रा यह कि अदालन के साहब ने उनके हाथ में कुरान देके पूछा, "वैल जमादार, तुम सच-सच कहो, यह कैसा आदमी है?" अब्बा ने साफ-साफ, जो उसका हाल था, कह दिया। उन्हीं की गवाही पर दिलावर खां कैद हो गया था। यह हाल मैंने अपनी मां से सुना था। वही कीना उसके दिल में चला आता था।

एक दिन उसने अब्बा का कबूतर उतार लिया। अब्बा लेने को गए, न दिया। अब्बा चार आने देते थे, वह आठ आने मांगता था। अब्बा तो नौकरी पै चले गए; और झुटपुटे का वक्त था, खुदा जाने मैं क्यों घर से निकली। देखती क्या हूं कि वह इमली के नीचे खड़ा हुआ है कहने लगा, "बेटी, तुम्हारे अब्बा पैसे दे गए थे, कबूतर ले लो।" मैं उसके दम में आ गई, साथ चली गई। जाके जो देखती हूं, घर में काली चिड़िया नहीं, अकेला मकान पड़ा है। इधर मैं मकान में दाखिल हुई, उधर उसने अंदर से कुंडी बंद कर ली। चाहती थी कि चीखूं। उसने मुंह में गूदड़ ठूंस दिया, मेरे दोनों हाथ रूमाल से कस दिए।

इस मकान का एक दरवाजा पीछे की तरफ था। मुझे जमीन पर बिठाके आप गया, दरवाजा खोला और 'पीरबख्श' कहके आवाज दी। पीरबख्श अंदर आया। दोनों ने मिलके मुझे बैलगाड़ी पर सवार किया कि गाड़ी चल निकली। मेरे काटो तो खून नहीं। तले की सांस तले और ऊपर की ऊपर। करुं तो करुं क्या, कोई बस नहीं। मूजी के चंगुल में थी। दिलावर खां, बहली के अंदर मुझे घुटनों के नीचे दबाए बैठा था, हाथ में छुरी लिए था। मुए की आंखों से खून टपक रहा था। पीरबख्श गाड़ी हांक रहा था और बैल थे कि उड़े चले जा रहे थे।

थोड़ी देर में शाम हो गई। चारों तरफ अंधेरा छा गया। जाड़े के दिन थे। सन्नाटे की हवा चल रही थी। सर्दी के मारे मेरी बोटी-बोटी कांप रही थी, दम निकला जाता था। आंखों से बारिश जारी थी। दिल में यह ख्याल आता कि किस आफत में फंस गई—अब्बा नौकरी पर से आए हुए होंगे, मुझे ढूंढ़ते होंगे, अम्मां आफत पीट रही होंगी, छोटा भाई खेल रहा होगा, उसे क्या मालूम होगा कि बहन कहां फंस गई। मां, बाप, भाई, मकान, दालान, अंगनई, बावर्चीखाना—सब मेरी आंखों के सामने था। लेकिन यह सब ख्यालात एक तरफ और जान का खौफ एक तरफ। दिलावर आं घड़ी-घड़ी छुरी दिखाता था। मुझे ऐसा मालूम होता था कि अब कोई दम से यह छुरी मेरे गले के पार होगी। मारे डर के मुह से आवाज न निकलती थी।

इधर मेरा तो यह हाल था, उधर दिलावर खां और पीरबख्श में हंस-हंसके बातें हो रही थीं। मेरे मां-बाप और मुझ पर बात-बात में गालियां पड़ती जाती थीं।

दिलावर खां : देखा भाई पीरबख्श! सिपाही का पूत बारह बरस के बाद अपना बदला लेता है। अब वह कैसा तिलमिलाता होगा!

पीरबख्श : भई तुमने बेशक इस मसल को असल कर दिखाया। बारह बरस तो हुए होंगे तुम्हं केद हुए।

दिलावर खां : पूरे बारह बरस हुए। भई, लखनऊ में क्या-क्या मुसीबतें उठाई। खैर... वह भी तो कोई दिन याद करेगा। यह तो मेरा पहला वार हुआ है। मैं तो उसे जान से मारूंगा।

पीरबख्श : मां, यह भी इरादा है?

दिलावर खां : तुम समझते क्या हो, जान से न मारा तो पठान का बीज नहीं।

पीरबख्श : भई, तुम बात के सच्चे हो, जो कहोगे कर दिखाओगे।

दिलावर खां : देखना।

पीरबख्श : और इसका क्या करोगे?

दिलावर खां : करेंगे क्या, यहीं कहीं मारके नाले में डाल दो, रातों-रात बह जाएगी।

मैं चौंकी। अपनी मौत का यकीन हो गया। आंखों में आंसू थम

Books.Jakhira.com

गए। दिल में एक धचका लगा। मुह ढल गया। हाथ-पांव डाल दिए। यह हाल देखके भी मुए कट्टर को तरस न आया और उसने एक घूसा ऐसे जोर से मेरे कलेजे पर मारा कि मैं बिलबिला गई।

पीरबख्श बोला : इसे तो मार डालोगे, और हमारा रुपया?

दिलावर खां : गले-गले पानी।

पीरबख्श: कहां से दोगे? हम तो कुछ और ही समझे थे।

दिलावर खां : घर चलो, कहीं से न हो सकेगा तो कबूतर बेच के दे दूंगा।

पीरबख्श : तुम बेअक्ल हो। कबूतर क्यों बेचो? हम न एक बात बताएं।

दिलावर खां : कहो।

पीरबख्श : अर-मां (अरे मियां), लखनऊ में चलके इस छोकरी के दाम खरे कर लो।

जब से अपने मरने का यकीन हो गया था मुझे इन दोनों मूजियों की बातें अच्छी तरह सुनाई न देती थीं, लेकिन पीरबख्श की यह बात जो कान में पड़ी तो फिर से अपनी जिंदगी का कुछ आसरा बंधा। दिल में उसे दुआएं देने लगी। दिलावर खां ने कहा, "अच्छा, देखा जाएगा।" इसके बाद कुछ देर ये लोग एक पेड़ के नीचे आग जलती देख हुक्का भरने के लिए रुक गए। जब फिर गाड़ी चली तो दिलावर खां ने हुक्के का एक कश लेते हुए कहा, "यह कितने में बिक जाएगी? और बेचेगा कौन? कहीं पकड़ लिए जाएं तो और मुश्किल हो।"

पीरबख्श : इसका हमारा जिम्मा। हम तो बेच देंगे। अरे मियां, तुम्हारी बातें, पकड़ेगा कौन! लखनऊ में ऐसे मामले दिन-रात हुआ करते हैं। हमारे साले को जानते हो?

दिलावर खां : करीम?

पीरबख्श : हां! उसकी रोटी इसी पर है। बीसियों लड़के-लड़कियां पकड़ ले गया, लखनऊ में जाके बेच लिए।

दिलावर खां : कितने के बिकते हैं?

पीरबख्श : जैसी सूरत हुई।

दिलावर खां : भला ये कितने की बिक जाएगी?

पीरबख्श : सौ-डेढ़ सौ, जैसी तुम्हारी तकदीर हुई।

दिलावर खां : भाई की बातें! सौ-डेढ़ सौ! इसकी सूरत ही क्या है? सौ भी तो बहुत हैं।

पीरबख्श : अच्छा इससे क्या! ले चलो! मार डालने से क्या फायदा?

इसके बाद दोनों में कानों में कुछ बातें होने लगीं जो मैं न सुन

Books.Jakhira.com

सकी। रात-भर गाड़ी चलाई। मेरी जान सांसे में थी। मौत आंखों के सामने फिर रही थी। ताकत खत्म हो गई थी। बदल सुन्न हो गया था। नींद तो सूली पर भी आती है, थोड़ी देर में आंख लग गई।

तीन

उस जमाने में रेल न थी। फैजाबाद से लखनऊ चार दिन का रास्ता था। मगर दिलावर खां इस खौफ से कि कहीं मेरे अब्बा पीछा न करें, न मालूम किन बीहड़ रास्तों से लाया। कोई आठ दिन में लखनऊ पहुंचे। मुझ निगोड़ी को क्या खबर थी कि लखनऊ कहां है; मगर उन दोनों की बातों से समझ गई थी, कहां लिए जा रहे हैं। लखनऊ में गोमती के उस पार करीम की ससुराल में मुझे लाके उतारा। छोटा-सा कच्चा मकान था। करीम की सास मुई मुर्दे सूंघी-सी मालूम होती थी। मुझे घर में ले गई और ले जाके एक कोठरी में बंद कर दिया।

सुबह होते ही हम लखनऊ पहुंचे थे। मैं दोपहर तक बंद रही। फिर कोठरी का दरवाजा खुला। एक जवान-सी औरत, जो करीम की जोरू थी, तीन चपातियां और एक मिट्टी के प्याले में चमचा-भर माश (उर्द) की दाल और एक बंधनी पानी की मेरे आगे रखके चली गई। मुझे उस वक्त वह भी नियामत लगा। आठ दिन हो गए थे, घर का पका खाना नसीब न हुआ था। रास्ते में चने और सत्तुओं के सिवा और कुछ मिला ही न था। कोई आधी बंधनी-भर पानी पी गई। इसके बाद जमीन पर पांव फैलाके सो गई।

दो दिन अकेले ही इस कोठरी में गुजरे। तीसरे दिन एक और लड़की-मुझसे उम्र में दो-एक बरस बड़ी-लाके बंद की गई। करीम खुदा जाने कहां से उसे फुसलाके ले आया था। बेचारी चुहक-चुहकके रोती थी। मुझे उसका आना गनीमत लगा। जब व रो-धो चुकी तो चुपके-चुपके बातें होने लगी। किसी बनिए की लड़की थी, रामदेई नाम था। सीतापुर के पास कोई गांव था, वहां की रहनेवाली थी। अंधेरे में तो उसकी शक्ल दिखाई न दी। दिन में जब कोठरी की

खिड़की खुली तो उसने मुझे देखा, मैंने उसे। गोरी-गोरी थी, बहुत खूबसूरत नाक-नक्शा, डील छरहरा।

चौथे दिन उस कालकोठरी से उसकी रिहाई हुई। मैं वहीं रही। फिर तनहाई नसीब हुई। उसके तीसरे दिन, रात के वक्त दिलावर खां और पीरबख्श ने आके मुझे निकाला और अपने साथ ले चले। बहुत घुमा-फिराकर एक बाजार आया-यह वह बाजार था जहां इज्जत-फरोशी की दुकानें थीं, यानी चौक। हम एक मकान के दरवाजे पर पहुंचे। यह खानम जान का मकान था, जहां मुझे जिल्लत-इज्जत, बदनामी-नेकनामी,

जो कुछ दुनिया में मिलना था, मिला। मकान का दरवाजा खुला हुआ था, थोड़ी दूर पर जीना था, जीने से चढ़के ऊपर पहुंचे। वहां सेहन से होते हुए सदर दालान की दाहिनी तरफ के एक चौड़े दालान में खानम जान के पास हम गए।

उनकी उम्र कोई पचास बरस की होगी। क्या शानदार बुढ़िया थी! रंग तो सांवला था मगर ऐसी भारी-भरकम औरत, जिससे कपड़ों की शान बढ़ती हो, देखी न सुनी। बालों की आगे की लटें, बिलकुल सफेद, उनके चेहरे पर भली मालूम होती थीं। मलमल का दोपट्टा, कैसा बारीक चुना हुआ कि शायद ही और किसी का हो! ऊदे पाजामें बड़े-बड़े पायचों के। हाथों में मोटे-मोटे सोने के कड़े, कलाइयों में फंसे हुए। कानों में सादे दो बुंदे लाख-लाख बनाव देते थे। उस दिन की खानम की सूरत आज तक याद है– पलंग से लगी हुई कालीन पर बैठी हैं, कंवल जल रहा है, बड़ा-सा कामदार पानदान खुला हुआ आगे रखा है, पेचवान पी रही हैं, सामने एक सांवली-सी लड़की नाच रही है। यह उनकी लड़की बिस्मिल्ला जान थी। हमारे जाने के बाद नाच रुक गया, सब लोग कमरे से चले गए। माामला तो पहले ही हो चुका था।

खानम जान : यही छोकरी है?

दिलावर खां : जी हां।

मुझे पास बुलाया, चुमकार के बिठाया, माथा उठाके सूरत देखी। बोली : अच्छा, फिर जो हमने कह दिया है, मौजूद है। और वह दूसरी लड़की क्या हुई?

पीरबख्श : उसका तो मामला हो गया।

खानम : कितने पर?

पीरबख्श : दो सौ पर।

खानम : अच्छा, खैर। कहां हुआ?

पीरबख्श : एक बेगम साहिबा ने अपने साहिबजादे के वास्ते मोल लिया है।

खानम : सूरत-शक्ल की अच्छी थी तो इस कदर हम भी दे निकलते। तुमने जल्दी की।

पीरबख्श : मैं क्या करूं, मैंने तो बहुत समझाया, मेरे साले ने न माना।

दिलावर खां : सूरत तो इसकी भी अच्छी है, आगे आपकी पंसद।

खानम : खैर, आदमी का बच्चा है।

दिलावर खां :जो कुछ है आपके सामने हाजिर है।

खानम : अच्छा, तुम्हारी ही जिद सही।

यह कहके खानम ने हुसैनी को आवाज दी। हुसैनी, गुदबुदी-सी, सांवली अधेड़ औरत, सामने आके खड़ी, तो उन्होंने संदूकचा लाने को कहा। उसने लाके सामने रख दिया। खानम साहब ने संदूकचा खोला, बहुत-से रुपये दिलावर खां के सामने निकालके रख दिए। बाद को मालूम हुआ कि सवा सौ थे।

दिलावर खां और पीरबख्श सलाम करके चले गए तो खानम साहब पूछने लगीं: हुसैनी, यह छोकरी इतने दामों कुछ महंगी तो नहीं मालूम पड़ी?

हुसैनी : महंगी! मैं कहती हूं, सस्ती है।

खानम : सस्ती भी नहीं है। खैर, होगी। सूरत तो भोली-भाली है। खुदा जाने किसकी लड़की है! हाय! मां-बाप का क्या हाल होगा! कहां से मुए पकड़ लाते हैं, जरा भी खुदा का खौफ नहीं। हम लोग तो बेकसूर हैं। पाप उन्हीं मुओं पर होता है। यहां न बिकती, कहीं और बिकती।

हुसैनी : खानम साहब, यहां फिर भी अच्छी रहेगी। आपने सुना नहीं, घरों में लौंडियों (सेविकाएं) की क्या गतें होती हैं!

कुछ देर दोनों इसी तरह बातें करती रहीं। फिर बुआ हुसैनी ने बड़ी मिन्नत से कहा: बीबी, यह छोकरी तो मुझे दे दीजिए। मैं पालूंगी। माल आपका है, खिदमत मैं करूंगी।

अब तक बुआ हुसैनी खड़ी हुई थीं। अब बैठकर मुझसे बातें करने लगीं। नाम पूछा तो मैंने बताया अमीरन। खानम बोली: भई, यह नाम तो हमें पसंद नहीं, हम तो उमराऔ कहके पुकारेंगे। फिर हुसैनी ने मुझसे कहा: सुना बच्ची, उमराऔ के नाम पर तुम बोलना, जब बीबी कहें उपराऔ, तो तुम कहना, जी।

उस दिन से उमराऔ मेरा नाम हो गया। थोड़े दिनों बाद जब मैं रंडियों की गिनती में आई तो लोग 'उमराव जान' कहने लगे। खानम साहब मरते दम तक 'उमराव' कहा करती थीं। बुआ हुसैनी 'उमराऔ साहब' कहती थीं।

चार

खानम का मकान था कि एक परिस्तान था। जिस कमरे में जा निकलो सिवा खाने-बजाने, हंसी-मजाक के और कोई चर्चा न थी। अगरचे कमसिन थी, मगर फिर भी औरतजात बड़ी होशियार होती है, मैं अपने मतलब को समझती थी। बिस्मिल्ला, खुर्शीद को गाते-नाचते देखके मेरे दिल में भी खुद-ब-खुद उमंग-सी पैदा होती, मैं अपने-आप गुनगुनाने और थिरकने लगती। इसी अर्से में मेरी भी तालीम शुरू हो गई। मेरी तबीयत गाने-बजाने के लिए बहुत मुनासिब पाई गई। आवाज भी पक्के गाने के लायक थी। सरगम साफ होने के बाद उस्ताद ने आस्तायी शुरू करा दी। उस्ताद जी बहुत उसूल से तालीम देते थे, हरेक राग का सुर-ब्यौरा जबानी याद कराया जाता था और वही गले से निकलवाया जाता था। मजाल न थी कि सुर कोमल से अतकोमल (अति कोमल), शुध (शुद्ध) से अतशुध (अतिशुद्ध), या तीवर (तीव्र), से तीवरतर (तीव्रतर) हो जाए।

खान जान की नौचियों (शरीफ और खानदानवाली रंडियां दूसरी लड़कियों को खरीद लेती है। ये खरीदी लड़कियां नौचियां कहलाती हैं।) को सिर्फ नाच-गाने की तालीम नहीं दी जाती थी, बल्कि लिखने-पढ़ने के लिए मकतब भी था। मौलवी साहब नौकर थे। दस्तूर के मुताबिक मैं भी मकबत में भेजी गई।

मेरी परवरिश बुआ हुसैनी ने अपने जिम्मे ली थी, इसलिए मुझ पर मौलवी साहब की खास तवज्जह थी। यह उन्हीं की जूतियों की बदौलत है कि जिस अमीर-रईस की महफिल में गई, हैसियत से ज्यादा मेरी इज्जत हुई लायक-फायक साहबों के जलसों में मुंह खोलने की हिम्मत हुई, शाही दरबारों में शिरकत करने का मौका मिला, आला दरजे की बेगमात के महलों में गुजर हुआ। मौलवी साहब ने बहुत प्यार से पढ़ाया। अलिफ-बे से शुरू कराके फारसी की गुलिस्तां-बोस्तां तक पढ़ाया, मंतिक की दो किताबें पढ़ाईं, इमला दुरस्त कराया, खत लिखाए। शेरो-शायरी का शौक उन्हीं से शुरू हुआ। सात-आठ बरस मैं मौलवी साहब से पढ़ती रही।

Books.Jakhira.com

पांच

मकतब में मुझ समेत तीन लड़कियां थीं और एक लड़का था मिर्जा गौहर। मिर्जा हद का शरीर था, बदजात। सब लड़कियों को छेड़ा करता था। किसी को मुंह चिढ़ा दिया, किसी के चुटकी ले ली, इसकी चोटी पकड़ के खींच ली, उसका कान दुखा दिया, दो लड़कियों की चोटियां एक में जकड़ दीं। गर्ज कि उसके मारे नाक में दम था।

लड़कियां भी खूब धपियाती थीं। मौलवी साहब भी खूब-खूब सजा देते थे। मगर वह कि अपनी आनी-बानी से न चूकता था। सबसे बढ़के मेरी गत बनाता था। मैंने भी मौलवी साहब से कह-कहके वो-वो मार पिटवाई, मगर बेगैरत किसी तरह बाज न आया। आखिर मैं भी चुगलियां खाते-खाते थक गई। मेरी फरियाद पर मौलवी साहब उसको ऐसी बेदर्दी से सजा देते थे कि खुद मुझे तरस आ जाता था।

गौहर मिर्जा के इस मकतब में आने की वजह भी बुआ हुसैनी थीं। नवाब सुलतान अली खां एक बड़े आला खानदान के रईस थे। तोप दरवाजे में रहते थे। उनका बन्नो डोमनी से रस्म था। उन्हीं से ये लड़का पैदा हुआ। नवाब साहब से मुलाकात बंद हुए एक अर्सा हो गया था, मगर वह लड़के की परवरिश के लिए दस रुपया महावार दिए जाते थे और बेगम साहबा से चोरी-छुपे कभी-कभी बुलाके देख भी लिया करते थे। बन्नो काजी के बाग की रहनेवाली थीं, वहीं बुआ हुसैनी के भाई का घर था। गौहर मिर्जा बचपन से ही बेहद शरीर थे, सारे मुहल्ले का नाकों-दम रखते थे। मां ने मस्जिद में मौलवी साहब के यहां पढ़ने को बिठा दिया, लेकिन वहां भी यह हाल किया कि एक दिन मौलवी साहब मिर्जा के कान पकड़े हुए बन्नो के दरवाजे पै आए और 'लो साब, अपना लड़का, हम इसे न पढ़ाएंगे' कहके चले गए। उस वक्त बुआ हुसैनी अपने भाई के यहां गई हुई थीं। बन्नो ने कहा: भई इसको बुलाके अपने मौलवी साहब के पास ले जाओ। और दूसरे दिन बुआ हुसैनी के भाई अलीबख्श एक थाल में मिठाई लिए गौहर मिर्जा को वहां छोड़ गए। बुआ हुसैनी ने खुशी-खुशी मिठाई तकसीम कर दी और मिर्जा को मौलवी साहब के पास बिठा दिया।

इसी तरह मेरी जिंदगी खानम के मकान पर गुजर रही थी। इस दरम्यान में कोई ऐसी बात नहीं हुई जिसका बयान जरूरी हो। हां, बिस्मिल्ला की मिस्सी (खानदानी रंडियों के यहां पेशा नहीं होता, बल्कि नौकरी होती है। कभी-कभी तो एक रंडी सारी जिदगी एक ही आदमी की नौकर रहती है और दूसरा आदमी उसके साथ हंसी-मजाक भले कर ले, शरीर को हाथ नहीं लगा सकता। उनके यहां लड़की जब

Books.Jakhira.com

जवान होने पर पहली बार नौकरी करती है तो उसी तरह से खुशी मनाई जाती है और जलसे होते हैं जैसे घर-गृहस्थों में शादी के मौके पर। इस रस्म को मिस्सी कहते हैं।) बड़े धूम से हुई। मेरी आंखों के देखते शाही जमाने से लेकर अब तक फिर वैसी मिस्सी नहीं हुई। दिलाराम की बारहदरी इस जलसे के लिए सजाई गई थी। अंदर से बाहर तक रोशनी थी। शहर की रंडियां, डोम (नीच जाति की खानदानी रंडियां), ठाड़ी (खानदानी मीरासी, तबलची और सरंगिये), कशमीरी भांड तो थे ही, दूर-दूर से डरेदार (ऊंची जाति की खानदानी रंडियां), तवायफें बुलाई गई थीं, बड़े-बड़े नामी गवैये दिल्ली तक से आए थे। सात दिन-रात गाने-बजाने की सोहब रही। खानम ने जैसे दिल खोलके हिस्से (प्रसाद), तकसीम किए, उसका आजतक नाम है। बिस्मिल्ला खानम की इकलौती लड़की थी। जो कुछ न होता कम था, और फिर नवाब छब्बन साहब ने अपनी दादी उमदतुलखाकान बेगम की जायदाद पाई थी। बहुत ही कमसिन नवाबजादे थे। खानम ने खुदा जाने किन तरकीबों से कम्पा मारा कि बेचारे फंस ही तो गए—नवाब साहब के पच्चीस-तीस हजार रुपये इस जलसे पर खर्च हुए। इसके बाद बिस्मिल्ला नवाब साहब की मुलाजिम हो गईं।

छह

बाहर के किसी अफसर के साहबजादे थे। पढ़ने के लिए लखनऊ तशरीफ लाए थे। घर से खुशहाल थे। वालिद मरहूम रिश्वत व नजराने से एक बड़ा इलाका इनके खर्च के लिए छोड़ गए थे। कुछ रोज यहां आके अच्छे रहे फिर जो लखनऊ की हवा लगी तो तमाशबीन के इल्म में होशियार हो गए। नाम था राशिद अली और राशिद तखल्लुस करते थे। लखनऊ के किसी उस्ताद ने शागिर्द बना लिया था। तखल्लुस पर बहुत घमंड करते थे। जो मुलाजिम साथ आए थे, रक्खन मियां कहते थे। लखनऊ वालों ने इनको राजा का लकब दे दिया। मगर इस नाम और लकब में किसी कद्र देहातीपन था और आप लखनऊ के अंदाज में चलना चाहते थे। इसलिए थोड़े दिनों में

नवाब साहब बन गए। जब घर से आए थे, दाढ़ी मुंह पर थी। लखनऊ की हवा लगते ही पहले कतरवां हुई, फिर खशखश और थोड़े दिनों में बिलकुल सफाया हो गया। दाढ़ी मुंड़ने से चेहरा बदनुमा हो गया मगर आप अपने को बहुत हसीन समझते थे।

खुद ही बहुत तबीयतदार आदमी थे; फिर लायक दोस्तों का साथ। चंद ही दिनों में ऊंचे-ऊंचे कमरों तक पहुंच हो गई। पहुंच कैसी, बेतकल्लुफी बढ़ गई। नायिकाओं का बड़ा अदब करते थे। जिस रंडी से एक रात का भी वास्ता हो गया, उसकी नायिका को सबके सामने अम्मां जान कहते थे और झुकके तस्लीम करते थे ताकि यारों पर जाहिर हो जाए कि आप यहां के आनेवालों में हैं। गाने में भी आपको कमाल हासिल था। ठुमरियां खुद लिखते थे, खुद धुन बनाके गाते थे और खुद ही भाव बताते थे और तो जो कुछ था, मुंह से तबला खूब बजाते थे। घर से बेरोक-टोक रुपया चला आता था। मां बेचारी यह समझके कि लड़का पढ़ने गया है, जो मंगाते भेज देतीं। लखनऊ के बेफिकरे सफेदपोश, ऐशपसंद मुफ्तखोरों का साथ था।

इन्हीं यारों के कहने-सुनने से मेरे बारे में ख्याल पैदा हुआ जिसे बढ़ाके इश्क और उसके बाद पागलपन तक पहुंचाया गया। खानम खिंची रहीं, कहती रहीं कि लड़की अभी कमसिन है। बड़ी आरजू-मिन्नत के बाद पांच हजार तोड़ हुआ। आप रुपया लेने के लिए गांव गए और मां से छुपाके दो गांव रेहन रखके बीस-पच्चीस हजार रुपया लेके लखनऊ आए। दीवानजी की मारफत पांच हजार रुपया खानम के खजाने में आ गया। बुआ हुसैनी ने हाथ-पांव फैलाए, पांच सौ नजर-न्यास के नाम पर ले मरीं। मैं उनके सर मढ़ी गई। छह महीने लखनऊ रहे, सौ रुपया माहवार देते रहे, फरमाइशों का जिक्र नहीं। जो कुछ मुझे खुफिया दिया वह बुआ हुसैनी के पास रहता था, खानम को उसकी खबर न थी। अब मैं गोया आजाद हो गई। दो महरियां, दो खिदमतगार मेरे लिए खास मुलाजिम हुए। फाटक के पावाला कमरा मेरे रहने के लिए सजा दिया गया। दो-चार मर्द आदमी, शरीफजादे, मेरे पास भी आके बैठने लगे।

सात

यूं तो मैं पहले-पहल बिस्मिल्ला की मिस्सी में नाची-गायी थी, मगर मेरा पहला मुजरा नवाब शुजाअत अली खां के लड़के की शादी में हुआ। वह महफिल भी यादगार थी। नवाब की बारहदरी किस शान से सजी थी– बेशकीमती शीशों के आलों की रोशनी से रात को दिन हो गया था। अतर और फूलों की खुशबू से तमाम महफिल बसी हुई

थी। धुआंधार हुक्कों की खुशबुओं, गिलौरियों की महक से दिमाग तर थे। मेरा सिन कोई चौदह बरस का था।

उस जमाने में बड़ौदे से एक बाईजी आई हुई थीं। तमाम शहर में उनके गाने की धूम थी। बड़े-बड़े गवैये कान पकड़ते थे। मालूमात ऐसी कि गोया पोथियां उनकी जबान की नोक पै थीं। गला वह कि चार मुहल्ले उधर आवाज जाए। मगर वाह खानमसाहब, क्या रंग देखती थीं कि उनके बाद मुझे खड़ा कर दिया। मुझे तो क्या तमीज थी, मगर समझदार लोग हैरान थे कि खानम साहब क्या करती हैं, भला बाईजी के सामने इस छोकरी का रंग जमेगा!

तमाम पर रंग जम गया। हर लफ्ज पर वाह-वाह, हर सम पर अहाहा-अहाहा। एक-एक शेर आठ-दस मरतबा पढ़ाया गया। इस गजल पर मेरा मुजरा खत्म हुआ दूसरे मुजरे में फिर यही गवाई गई।

मुजरे के दूसरे दिन बुआ हुसैनी मेरे कमरे में आईं। साथ में एक खिदमतगार था। इतना कहके कि "देखो उमराव साहब, यह क्या कहता है," वह कमरे से बाहर जा बैठीं।

खिदमतगार ने (सलाम करके) कहा, मुझे नवाब सुलतान साहब ने भेजा है, जो कल रात दूल्हा के दाहिनी तरफ बैठे थे। उन्होंने फरमाया है कि मैं किसी वक्त आपके पास आना चाहता हूं, लेकिन शर्त यह है कि जब मैं आऊं तो कोई और न हो और उस गजल की नकल मांगी है जो कल आपने गायी थी।

मैं : नवाब साहब से मेरी तस्लीम कहना और कहना कि शाम को जब चाहिए तशरीफ लाइए, आपका घर है, तखलिया (एकांत) हो जाएगा। गजल के लिए कल किसी वक्त आना, लिख दूंगी।

दूसरे दिन पहर दिन चढ़े खिदमतगार आया। मैं कमरे में अकेली बैठी थी। गजल की नकल मैंने कर रखी थी, उसके हवाले की। उसने पांच अशरफियां कमर से निकालके मुझे दीं और कहा, "नवाब साहब ने फरमाया है कि आपके लायक तो नहीं है मगर पान खाने के लिए मेरी तरफ से कबूल कीजिए। आज रात चिरागजले बाद मैं जरूर आऊंगा।"

खिदमतगार सलाम करके चला गया तो मुझे खयाल हुआ कि बुआ हुसैनी को बुलाके ये अशरफियां दे दूं, वो खानम के हवाले कर देंगी। फिर एक दफे जो अशरफियों की तरफ देखा–चमकती हुई नए घान की अशरफियां, भला मेरे दिल से कब निकलती हैं! संदूकचा–वंदूकचा तो मेरे पास न था, पलंग के नीचे दबा दीं।

नवाब साहब कभी खान के मान पर नहीं आए। हफ्ते में दो–तीन बार अपने दोस्त के यहां बुला भेजते थे। अजीब मजे की सोहबत रहती थी। कभी शेरो–शायरी का चर्चा होता, कभी वह गाते कभी मैं। जब याद आता है, उन जलसों की तस्वीर आंखों के सामने आ जाती है। मुझे उनसे, उन्हें मुझसे मुहब्बत थी। दोनों की तबीयतें कुछ ऐसी मिलती थीं कि अगर उम्र–भर का साथ होता तो अफसोस न होता जैसा उनसे दिल मिला, कभी किसी और से न मिला। मगर किस्मत ने साथ न दिया। वे जसे बहुत जल्द खत्म हो गए। हम लोग अलग हो गए।

आठ

खानम की नौचियों में यूं तो मेरे सिवा हर एक अच्छी थी, मगर खुर्शीद का जवाब न था। परी की सूरत, रंग मैदा–जैसा साफ, नाक–नकशा गोया कुदरत के मालिक ने अपने हाथ से बनाया था, आंखों में मालूम होता था मोती कूट–कूटके भर दिए हैं, हाथ–पांव सुडौल, भरे–भरे बाजू, गोल कलाइयां और जो कपड़ा पहनती बदन पर ऐसा फबता कि मालूम होता इसी के लिए बना है। अदाओं में वह मिठास, वह भोलापन कि जो एक नजर से देखे हजार जान से फरेफ्ता हो जाए, जिस महफिल में जाके बैठ गई मालूम हुआ कि शमा जल उठी, बीसियों रंडियां बैठी हों लेकिन निगाह इसी पर पड़ती थी। यह सब कुछ था मगर तकदीर की अच्छी न थी। और तकदीर को भी क्यों इलजाम दीजिए, खुद अपने हाथों खराब की। सच तो यह है कि वह रंडीपने के लायक न थी।

बैसवाड़े के एक जमींदार की लड़की थी। सूरत से शराफत टपकती थी। लेकिन यह भूत सवार था कि कोई मुझे चाहे। यूं खुद वह

प्यार के लायक थी। कौन ऐसा होगा जो उस पर लट्टू न हो जाता हो! पहले तो प्यारे साहब को मुहब्बत थी, हजारों रुपये का सुलूक किया, वाकई जान देते थे। खुर्शीद ने भी खूब कसा। जब इत्मीनान हो गया तो खुद ही जान देने लगी, इंतजार में दिन-दिन-भर खाना न खाती, किसी दिन इत्तफाक से न आ सके तो आंसुओं की धार बहा देती।

हम सबने सलाह दी कि देखों खुर्शीद, ये मर्दुए किसी के नहीं होते। तुम्हारी तो सिर्फ आशनायी है, निकाह नहीं हुआ, ब्याह नहीं हुआ, पछताओगी। प्यारे साहब ने जो देखा कि रंडी प्यार करती है तो लगे ऐंठने। या तो आठों पहर बैठे रहते थे या अब हैं कि दो-दो दिन नहीं

आते और खुर्शीद जान दिए देती है। खानम को उसकी सूरत से नफरत हो गई, यहां तक कि आना-जाना, खाना-पीना, आदमियों की तनख्वाह, सब बंद कर दिया। मगर खुर्शीद के दिल में इश्क इस कद्र भरा था कि किसी मर्द आदमी के पास होती तो खूब निबाह होता, उम्र-भर मर्द पांव धो-धोके पीता।

खुर्शीद की जात से खान को बड़ी उम्मीदें थीं। वाकई, उसमें रंडीपन होता तो लाखों पैदा करती। अच्छे-अच्छे मरते थे। मगर जब देखा मुंह थूथा लिए बैठी है, किसी और का इश्क सवार है, हर एक से बेरुखी है, तो लोगों ने भी आना छोड़ दिया। अब सिर्फ प्यारे साहब ही रह गए। उनका यह हाल हुआ कि उनके वालिद से बादशाह नाराज हो गए, घर जब्त कर लिया, जागीर छीन ली। प्यारे साहब बेचारे मुहताज हो गए। यह सब कुछ हुआ मगर खुर्शीद की मुहब्बत में कमी न आई अब प्यारे साहब से यह जिद हो गई कि घर में बिठा लो। प्यारे साहब ने खानदान की इज्जत का खयाल करके या यूं कहिए कि बाप के डर से, मंजूर न किया। खुर्शीद की आस टूट गई।

खुर्शीद बहुत ही सीधी औरत थी। लोग फुसला-फुसलाके सैकड़ों रुपये खा गए। ऐसी नेकदिल और नेकमिजाज औरतें बहू-बेटियों में कम होती हैं, रंडियों का जिक्र क्या! कभी गुस्सा न आता था। बस, एक बार आया। जिस दिन प्यारे साहब की शादी होनेवाली थी। वह मांझे का जोड़ा पहनके आए। खुर्शीद पहले तो चुपकी बैठी रही। थोड़ी देर बाद उसके गालों पर सुर्खी दिखाई दी। धीरे-धीरे गाल लाल-भभूका हो गए। वह उठी, प्यारे साहब के कपड़े फाड़ डाले और फिर जो रोना शुरू किया तो दो दिन तक रोया की। तमाम दुनिया ने समझाया, न मानी। आखिर बुखार आने लगा। दो महीने बीमार रही, लेने-के-देने पड़ गए, हकीमों ने कह दिया दिक है। लेकिन खुदा की मेहरबानी से दो महीने बाद तबीयत अपने-आप ठीक हो गई। प्यारे साहब से बात खत्म हो गई। इसके बाद और लोगों से मुलाकात हुई, मगर दिल किसी से न लगा और न किसी का दिल उससे। ऊपर से मिलती थी, दिल न मिलता था।

खुर्शीद पर उस दिन गजब का जोबन था। गोरी रंगत मलमल के धानी दुपट्टे से फूटी पड़ती थी। बड़े-बड़े पायचों का ऊदी ग्रंट का पाजामा संभाले नहीं संभलता था, फंसी-फंसी करके कयामत ढा रही थी। हाथ-गले में हल्का-हल्का जेवर था, नाक में हीरे की कील, कानों में सोने की बालियां, हाथ में कड़े, गले में मोतियों का कंठ। सामने कमरे में आदमी के कद का शीशा लगा था, वह अपनी सूरत देख रही थी और गम कर रही थी कि इस गजब की सूरत... और कोई देखनेवाला नहीं। चेहरा उदास हो गया। वह उदासी भी गजब कर रही थी, अच्छी सूरतवालों को सबकुछ अच्छा लगता है। उस वक्त उसे देखकर दिल पसीजा जा रहा था। और कोई मिसाल नहीं बन पड़ती, मालूम होता था कि किसी शायर ने कोई दर्द-भरा शेर कह दिया।

गौहर मिर्जा ने मोती झील के किनारे फर्श बिछवा दिया था। वहीं जाके ठहरे। इधर-उधर फिरते रहे, शाम से दो घड़ी रात तक मेले की सैर की। फिर घर चलने की ठहरी। अपनी-अपनी डोलियों में सवार हुए। अब जो देखते हैं तो खुर्शीद जान की डोली खाली है। तमाम तलाश किया, उनका कहीं पता न मिला। आखिर मायूस हो के घर वापस आए। खानम ने सुनते ही सिर पीट लिया। तमाम घर को सदमा हुआ।

नौ

खुर्शीद की बहुत तलाश की गई मगर कोई पता न चला। उसके गुम होने के डेढ़ महीने के बाद एक साहब, जिनका पहनावा शहर के बांकों-जैसा था, सांवला रंग, छरहरा बदन, एक दोशाला कमर से लपेटे और एक सर से बांधे, मेरे कमरे में दन्नाते चले आते और आने के साथ ही सामने कालीन के किनारे बैठ गए, जिससे मालूम हुआ कि तबीयत में कमीनापन है या अभी नए हैं, रंडियों के यहां कम जाने का इत्तफाक हुआ है। उस वक्त मैं अकेली बैठी थी। मैंने बुआ हुसैनी को आवाज दी। उनके सामने में आते ही वह साहब उठ खड़े हुए और कुछ बेतकल्लुफी के साथ बुआ हुसैनी का हाथ पकड़ लिया, अगर

ले जाकर बातें करने लगे। इसके बाद हुआ हुसैनी खानम के पास गईं, वहां से आकर बातें करने लगे। इसके बाद हुआ हुसैनी खानम के पास गईं, वहां से आकर फिर बातें हुईं। आखिरी बात यह थी कि महीने की तनख्वाह पेशगी देनी होगी। उन साहब ने कमरबंद से रुपये निकाले, बुआ हुसैनी ने गोद फैलाई, उन्होंने छन्न से फेंक दिए।

बुआ हुसैनी : ये कितने हैं?

वह साहब : नहीं मालूम, गिन लीजिए।

बुआ हुसैनी : ऐसे मुझे तो निगोड़ा गिनना भी नहीं आता।

वह साहब : मैं जानता हूं, पचहत्तर रुपये होंगे। शायद एक-दो कम हों या ज्यादा।

बुआ हुसैनी : मियां, पिचहत्तर किसे कहते हैं?

वह साहब : तीस बीसी और पंद्रह, या पच्चीस कम सौ।

बुआ हुसैनी : पच्चीस कम सौ- तो ये कितने दिन की तनख्वाह हुई?

वह साहब : पंद्रह दिन की। बाकी पंद्रह दिन की कल आ जाएगी तो पूरे डेढ़ सौ आपको पहुंच जाएंगे।

ये चर्चे सुनके मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ, यकीन हो गया कि ऐसे-वैसे ही होंगे। मगर मजबूर थी, रंडी का पेशा था और पराए बस में थी, करती तो क्या करती!

बुआ हुसैनी रुपये लेकर खानम के पास गईं। खानम उस वक्त नहीं मालूम किस नेकी के दम में थीं कि फौरन मंजूर कर लिया। मुझे ताज्जुब हुआ इसलिए कि बड़े-बड़े रईयों से रुपये के मामले में एक दम के लिए मुहब्बत नहीं करती थीं और इस वक्त एक दिन का वादा मान लिया।

इस मामले में तय होने के बाद वह साहब मेरे कमरे में रात को रहे। कोई एक पहर रात बाकी होगी, मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी ने कमरे के नीचे आके खटका किया। वह साहब फौरन उठ बैठे और कहा, "अब मैं जाता हूं, कल रात को फिर आऊंगा।" चलते वक्त पांच अशरफियां और तीन अंगूठियां, एक-से-एक अच्छी, मुझको दीं और

कहा, "यह तुम अपने पास रखना, खानम को न देना।" मैंने खुशी-खुशी हाथ में पहनीं और अपनी उंगलियों को देखने लगी। मुझे बहुत ही खूबसूरत मालूम हो रही थीं। फिर संदूकचा खोला और अशरफियों और अंगूठियों को चोरखाने में रख दिया।

दूसरी रात को फिर वह साहब आए। उस वक्त मैं गाना सीख रही थी। वह एक किनारे आकर बैठ गए। गाना हुआ किया। उन्होंने पांच रुपये साजिंदों को दिए, उस्तादजी और सारंगिये खुशामद की बातें करने लगे। उस्तादजी ने उनकी कमर में जो दोशाला बंधा हुआ था उसे ऐंठने का फिक्र की, मुंह खोलके मांग लिया। मगर वार खाली गया। उन्होंने न दिया। कहा, "रुपया-पैसा, जिस चीज को कहिए, मौजूद है। मगर यह दोशाला नहीं दे सकता, एक दोस्त की निशानी है।" उस्तादजी अपना-सा मुंह लेके चुप हो रहे।

बुआ हुसैनी को उन्होंने पचहत्तर रुपये गिन दिए, ऊपर से पांच रुपये इनाम के दे दिए। वह चली गई। जब वह और मैं सिर्फ दो आदमी कमरे में रह गए तो मैंने पूछा कि आपने मुझे कहां देखा, जो यह इनायत की?

वह : ऐशबाग के मेले में।

मैं : और फिर आए दो महीने के बाद?

वह : मैं बाहर चला गया था और अब फिर जानेवाला हूं।

अब मैंने रंडीपन की लगावट शुरू की। कहा: तो हमें छोड़के चले जाइएगा?

वह : नहीं बहुत जल्द आऊंगा।

मैं : और आपका मकान कहां है?

वह : मकान तो फर्रुखाबाद में है, मगर यहां बहुत काम रहता है, ज्यादातर यहीं रहता हूं, कुछ दिनों के लिए बाहर चला जाता हूं और फिर चला आता हूं।

मैं : और यह दोशाल किसकी निशानी है?

वह : किसी की नहीं।

Books.Jakhira.com

मैं : मैं समझ गई, किसी आशना की।

वह : नहीं, तुम्हारे सर की कसम, मेरी कोई आशना नहीं है। बस तुम्हीं हो जो कुछ हो।

मैं : तो फिर मुझे दीजिए।

वह : मैं नहीं दे सकता।

यह बात मुझे बहुत बुरी लगी। इतने में उन्होंने बड़े-बड़े मोतियों की माला और एक जोड़ा हीरे-जड़े कांगन और दो सोने की अंगूठियां मेरे आगे रख दीं। ये सब तो मैंने खुशी-खुशी उठा लिए और संदूकचा खोलके बंद करने लगी, मगर मुझे ताज्जुब हुआ कि ये हजारों का माल तो यू दे देते हैं मगर दोशाल ज्यादा-से-ज्यादा पांच सौ का होगा, इसमें क्यों इनकार करते हैं? वैसे मुझे दोशला पसंद नहीं था, जो जिद करती।

इन साहब का नाम फैज अली था। पहर-डेढ़ पहर रात गए आते थे और कभी आधी रात को, कभी पिछले पहर उठके चले जाते थे। महीने-डेढ़ महीने में कई बार मैंने खटके या सीटी की आवाज सुनी और फैज अली उठके चले जाते। उनसे रस्म (रिश्ता) हुए कोई डेढ़ महीना भी नहीं गुजरा होगा कि मेरा संदूकचा सादे और जड़ाऊ जेवरों से भर गया, अशरफियों और रुपयों की तो कोई गिनती नहीं थी। अब मेरे पास खानम और बुआ हुसैनी से छुपकर दस-बारह हजार का माल हो गया था।

फैज अली से मुझको अगर मुहब्बत न थी तो नफरत भी न थी। नफरत होने की कोई वजह भी न थी। एक तो कोई वह बदसूरत न थे, दूसरे लेना-देना अजीब चीज है। मैं सच कहती हूं कि उन दिनों जब तक वह न आते थे, मेरी आंखें दरवाजे की तरफ लगी रहती थीं। गौहर मिर्जा का आना-जाना अब सिर्फ दिन में होता था। शाम को आनेवाले भी समझ गए थे कि मैं किसी की पाबंद हो गई हूं, इसलिए जल्दी ही खिसक जाते थे और जो जमके बैठते उनकी मैं किसी बहाने से टाल देती थी।

इस दौरान फैज अली की मुझसे बहुत मुहब्बत हो गई, जो कई

तरह से जाहिर होता था। अगर मेरा दिल गौहर मिर्जा की तरफ झुका न होता तो मैं जरूर फैज अली को मुहब्बत करने लगती और दिल दे देती। फिर भी मैंने उसका दिल रखने और रख-रखाव में कोई कमी न की थी। वह समझते थे कि मुझे भी उनसे मुहब्बत है। जो कुछ वह छुपाके मुझे देते थे उसकी किसी को कानों-कान खबर न थी। खानम

और बुआ हुसैनी के कहने से मुझे फरमाईशें भी करनी पड़ती थीं। उनकी बातों को पूरी करना भी फैज अली अपना फर्ज समझते थे। उन्हें रुपए-पैसे की कोई परवाह न थी। ऐसा दिलदार आदमी मैंने न रईसों में देखा न शहजादों में।

रोजनाना की तरह, फैज अली कोई पहर रात गए तशरीफ लाए। आते ही कहने लगे: आज हम बाहर जा रहे हैं, परसों आएंगे। देखो उमराओ जान, जो-कुछ हमने तुमको दिया है उसकी किसी पर जाहिर न करना, बुआ हुसैनी को न देना और न खानम को दिखाना, तुम्हारे काम आएगा। हम परसों जरूर आ जाएंगे। अच्छा यह कहो कि हमारे साथ थोड़े दिनों के लिए बाहर चल सकती हो?

मैं : तुम जानते हो कि मैं अपने बस में नहीं। खानम साहब को हक है, जाने दें, न दें। उनसे कहो, वह राजी हों तो मुझे क्या ऐतराज!

फैज अली : सच है तुम लोग बड़े बेवफा होते हो। हम तुम पर जान देते हैं और तुम ऐसा सूखा जवाब देती हो। अच्छा, बुआ हुसैनी को बुलाओ।

बुआ हुसैनी : कहां?

फैज अली : फर्रुखाबाद। मैं कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हूं। मेरी वहां रियासत है। इस वक्त में दो महीने के लिए वहां जाता हूं। अगर खानम साहब मंजूर करें तो दो महीने की तनख्वाह पेशगी, बल्कि उसके अलावा जो कहें, देने को तैयार हूं।

बुआ हुसैनी : मुझे यकीन नहीं कि मंजूर करेंगी।

फैज अली : अच्छा तुम पूछो तो।

बुआ हुसैनी खानम साहब के पास गई। मेरे नजदीक उसका जाना बेकार था। मुझे यकीन था कि वह हरगिज मंजूर न करेंगी। फैज अली ने मेरे साथ वह सलूक किया था कि अगर मैं अपने बस में होती तो मुझे उनके साथ जाने में कोई ऐतराज न होता। मैं सोचती थी कि जब इस आदमी ने घर बैठे इतना किया तो अपने यहां ले जाके जरूर निहाल कर देगा।

बुआ हुसैनी ने आकर साफ जवाब दिया कि इनका बाहर जाना किसी तरह नहीं हो सकता।

फैज अली : दुगुनी तनख्वाह पर सही।

बुआ हुसैनी : चौगुनी तनख्वाह पर भी नहीं। हम लोग बाहर नहीं जाने देते।

फैज अली : खैर, जाने दो।

बुआ हुसैनी चली गई तो मैंने देखा कि फैज अली की आंखों से टप-टप आंसू गिरने लगे। मुझे बहुत तरस आया। बेवफाइयों का जिक्र किस्से-कहानियों में पढ़ती थी तो मुझे अफसोस होता था। मैं उन्हें बहुत कहती थी। मुझे ख्याल आया कि अगर फैज अली का साथ न दिया तो मेरी बेवफाई में कोई शक न रहेगा, समझा जाएगा कि मैं उनके एहसानों को भूल गई। मैंने दिल में ठान लिया कि मैं उनका साथ जरूर दूंगी।

मैं : अच्छा, तो मैं चलूंगी।

फैज अली : चलोगी?

मैं : हां, कोई जाने दे या न जाने दे, मैं जरूर चलूंगी।

फैज अली : कैसे?

मैं : छुपकर।

फैज अली : अच्छा, तो परसों रात को हम आएंगे। पहर रात रहे तुम्हें यहां से निकाल ले चलेंगे। देखो, धोखा न देना, नहीं तो अच्छा न होगा।

मैं : मैं अपनी खुशी से चलने को कहती हूं। तुमसे वायदा कर चुकी हूं। मेरे वायदे को भी देखो।

फैज अली : बहुत अच्छा, देखा जाएगा।

उस रात को फैज अली कोई डेढ़ पहर रात रहे मेरे पास से उठके चले गए। उनके जाने के बाद मैं सोचने लगी, वायदा तो कर लिया मगर देखिए क्या होता है, जाऊं या न जाऊं? जब फैज अली की मुहब्बत और अपने वायदे का ख्याल आता था तो दिल कहता था, जरूर जाना चाहिए। मगर दूसरी तरफ से आवाज आती थी न जाओ, खुदा जाने क्या होगा!

Books.Jakhira.com

खान का मकान चौक में बहुत ही हिफाजत की जगह पर था। पश्चिम की तरफ बाजार, उत्तर-दक्खिन रंडियों के ऊंचे-ऊंचे कमरे, एक तरफ बीबा जानका मकान, दूसरी तरफ हुसैनू बांदी रहती थी, पिछवाड़े मीर हुसैन अली साहब का दीवानखाना था। किसी तरफ से चोर का लगाव नहीं था। इस पर भी तीन पासी नौकर थे जो रात-भर कोठे पर फिरते थे। जब से फैज अली का आना-जाना शुरू हुआ था, मक्का पासी खास मेरे दरवाजे पर रहता था, क्योंकि फैज अली रात गए आया करते थे और पहर रात से चले जाते थे। मक्का दरवाजे बंद करने और ताले लगाने के लिए रखा गया था।

फैज अली के आने के बाद काफी देर तक चुपके-चुपके चल निकलने के मशविरे हुआ किए। इतने में मक्का ने अंगड़ाई ली। मालूम हुआ जाग रहा है। फैज अली ने उसे कमरे में बुलाया। एक रुपया इनाम दिया और कहा, "तुम आराम करो, हम जाग रहे हैं, कोई डर नहीं है, दरवाजा भेड़ देना, जाएंगे तो तुमको जगा देंगे।" मक्का सलाम करके गया तो फैज अली ने कहा कि लो अब चलो। मैं उठी। दो जोड़े कपड़े दिन ही से गठरी में बांध रखे थे। गठरी बगल में दबाके फैज अली के पीछे हो ली।

चलते-चलते मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कोई कान में कह रहा है कि "उमराव, न जा, कहा मान!" अब जीने पर दो-तीन सीढ़ी उतर चुकी तो ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई हाथ पकड़के खींचता है कि न जा। मगर मैंने न माना।

दस

खानम का जीना उतरके हमने अकबरी दरवाजे का रास्ता लिया। नखास में बैलगाड़ी पहले से खड़ी थी। हम दोनों सवार हुए और चल निकले। हिंडोले के नाके से थोड़ी दूर जाके फैज अली का साईस घोड़ा लिए हुए मिला। वह भी बैलगाड़ी के साथ हो लिया। सुबह होते-होते मोहनलाल गंज पहंचे। यहां सराय में दोपहर तक ठहरे, भटियारिन से खाना पकवाके खाया। तीसरे दिन रायबरेली पहुंचे। यहां

सफर के मुनासिब कपड़े खरीदे। मेरे दो जोड़े बनवाए। लखनऊ से जो कपड़े पहनके आई थी, उतारके गठरी में बांध लिए। रायबरेली से दूसरी बैलगाड़ी किराए पर की और लालगंज पहुंच गए। रात फिर सराय में रहे। फैज अली जरूरी सौदे-सुल्फ को बाजार गए। जिस कोठरी में हम थे, उसके पास वाली कोठरी में एक देहाती रंडी उतरी

हुई थी। नसीबन नाम था, गहने-पाते से दुरुस्त थी, कपड़े भी अच्छे थे। थी तो देहाती, मगर जबान इतनी साफ थी कि कस्बाती मालूम होती थी। मेरी उससे देर तक बातें हुआ कीं।

वह पहचान गई कि मैं भी रंडी हूं। मैंने कह दिया कि फैजाबाद की हूं, बहुत दिनों से इनके घर बैठ गई हूं। इनके साथ उन्नाव जा रही हूं, लखनऊ से आ रही हूं। उसने पूछा कि तुम लखनऊ से उन्नाव जाती हो, तो सीधा रास्ता छोड़कर इस बीहड़ रास्ते से क्यों जा रही हो? मैंने कहा कि इन्हें रायबरेली में काम था। वह बताने लगी कि इधर का रास्ता बहुत खराब है। डाकुओं के मारे मुसाफिरों का आना-जाना बंद है। पुलिया के बीहड़ों में सैकड़ों को लूट लिया और उन्नाव का रास्ता उधर होकर ही है- "तुम तीन आदमी हो, जिसमें दो मर्द, एक औरत-जात, तुम्हारे हाथ-गले में गहना भी है, तुम्हारी क्या हकीकत है, जब वहां बरातें लुट जाती है!" मैंने तकदीर का सहारा लेकर बात टाल दी और पूछा कि तुम कहां जाओगी।

नसीबन : हम तो गदायी को निकल हैं।

मैं : गदायी क्या? समझी नहीं।

नसीबन : ऐ लो! गदायी नहीं जानती! कैसी पतुरिया हो?

मैं : बहन, क्या जानूं! इनके साथ हूं। वैसे यह जानती हूं कि गदायी के मानी हैं भीख मांगना।

नसीबन : हमारे दुश्मन मांगें भीख। और सच पूछो, तो मैं कहूं, पतुरिया की जात तो भीख मंगनी ही है, इसमें डेरेदार हो या न हो।

मैं : हां सच तो है, मगर मुझे मालूम नहीं कि गदायी किसको कहते हैं।

नसीबन : साल में एक बार हम लोग घर से निकल के गांव-गांव फिरते हैं, अमीर-रईसों के मकानों पर जाके उतरते हैं, जो कुछ जिसकी हैसियत होती है, हमें दे देता है। कहीं मुजरा होता है, कहीं नहीं।

दूसरे दिन मुंह अंधेरे हम सराय से रवाना हुए। नसीबन की गाड़ी हमारे पीछे-पीछे थी। फैज अली घोड़े पर सवार थे। हम और नसीबन बातें करते जा रहे थे। थोड़ी दूर चलके गांव नजर आया, जहां नसीबन

Books.Jakhira.com

को जाना था। उसने हमें दिखाया- सड़क के किनारे खेत थे, जिनमें कुछ लड़कियां पानी दे रही थीं, कुछ निरायी कर रही थीं, कुछ पुर चला रही थीं और एक मुस्टंड औरत धोती बांधे बैल हांक रही थी। नसीबन ने कहा, "ये सब पतुरिया हैं।" मैंने दिल में सोचा कि आखिर इन्हें पतुरिया कौन कहेगा, मेहनत आदमियों से ज्यादा करें और शक्ल-सूरत लखनऊ की घसियारिनों जैसी।

दो ही तीन कोस गए होंगे कि बहुत-से सवार और पैदलों ने आकर घेर लिया। इधर भी सब पहले से मुस्तैद थे। दोनों तरफ से गोलियां चलीं, फिर तलवारें निकल आईं। इस लड़ाई में फैज अली मेरी गाड़ी के आसपास ही रहे। मैं गाड़ी के अंदर बैठी दुआएं पढ़ रही थी, मेरा कलेजा हाथों उठल रहा था कि देखिए क्या होता है! कभी-कभी गाड़ी का पर्दा खोलके देखती कि यह गिरा, यह मरा! आखिर दोनों तरफ से बहुत जख्मी हुए। हमारे साथ पचास-साठ आदमी थे। राजा ध्यानसिंह के आदमी बहुत-से थे। एक-एक पर दस-दस टूट पड़े। फैज अली मौका पाकर निकल गए। दस-बारह आदमी गिरफ्तार हुए। मैं भी गिरफ्तार हुई।

गाड़ीवान तो मिन्नतें करके छूट गया। और जख्मी सवार को वहीं पटक के रायबरेली की तरफ रवाना हो गया। बाकी गिरफ्तार आदमियों की मुश्कें कसी गईं। मैं राजा साहब के सामने हाजिर की गई। उन्होंने पूछा: बाई साहिबा लखनऊ से आई हैं?

मैंने हाथ बांधके कहां हुजूर, कसूरवार हूं, लेकिन गौर से देखा जाए, तो ऐसा कसूर भी नहीं। औरतजात जालफरेब से अगाह नहीं। मैं क्या जानती थी, ये लोग कौन हैं।

राजा साहब ने अपने आदमियों से कहा: देखो, हिम्मत खेड़े से एक बैलगाड़ी ले लो, लखनऊ की रंडियां हमारे देस की पतुरिया नहीं है कि रात-भर महफिल में नाचें और दिन को बारात के साथ दस-दस कोस नाचती जाएं।

मैं : हुजूर को खुदा सलामत रखे!

आदमी गए, गाड़ी ले आए। मुझे गाड़ी पर बिठाया गया, बाकी गिरफ्तार आदमी मुश्कें-कसी ले जाए गए। गढ़ी कोई पांच कोस पर थी। वहां पहुंचकर वे लोग तो नहीं मालूम कहां भेज दिए गए। मैं कोट में बुलाई गई, साफ-सुथरा मकान रहने को दिया, दो आदमी खिदमत को मुकर्रिर हुए। पका-मकान खाना, पूरियां-कचौड़ियां, मिठाई, तरह-तरह के अचार खाने को आए। लखनऊ छोड़ने के बाद आज रात को खाना

तबीयत भरके खाया। दूसरे रोज पहर दिन चढ़े राजा साहब ने बुला भेजा।

राजा साहब : अच्छा, हमने तुमको रिहा किया। फैजू और फजलू, दोनों बदमाश निकल गए। बाकी जो गिरफ्तार हुए हैं, लखनऊ भेजे जा रहे हैं। वहां पहुंचकर सजा पाएंगे। बेशक तुम्हारा कोई कसूर नहीं, मगर आइंदा ऐसे लोगों से न मिलना। अगर तुम्हारा जी चाहे, तो दो-चार दिन यहां रहो। हमने तुम्हारे गाने की बहुत तारीफ सुनी है।

मुझे नसीबन की वह बात याद आई कि राजा साहब के पास लखनऊ की कोई रंडी है। हो-न-हो, उसी ने मेरी तारीफ की होगी।

मैंने पूछा : हुजूर ने किससे सुना?

राजा साहब : अच्छा, यह भी मालूम हो जाएगा।

थोड़ी देर बाद लखनऊ की वह रंडी तलब हुई। वह सिवा खुर्शीद के और कौन होती! खुर्शीद दौड़कर मुझसे लिपट गई। दोनों मिलके रोने लगीं। आखिर खुर्शीद राजा साहब के डर से अलग होकर अदबसे बैठी। साजिंदे तलब हुए। मुझे रिहाई की खबर पहले ही मालूम हो गई थी और मैंने मौके के मुताबिक एक गजल कह ली थी। सुनाई, तो एक-एक शेर पर राजा साहब और सभी बहुत खुश हुए, बेखुदी का समां हो गया। बहुत दाद मिली। पहला शेर यह था:

कैदी उलफते-सैयाद रिहा होते हैं,
आज हम बादिले-नाशाद रिहा होते हैं।

(कैद करनेवाले की मुहब्बत से रिहा होने पर कैदी के दिल को दुख है।)

और आखिरी शेर था:

ऐ 'अदा' कैदे मुहब्बत से रिहाई मालूम
कब असीरे-गमें-सैयाद रिहा होते हैं।

(ऐ अदा, मुहब्बत की कैद से कहीं रिहाई होती है और कहीं कैद करनेवाले के गम से कैदी छुटकारा पाता है?)

सुनके राजा साहब ने पूछा: यह 'अदा' कौन है?

खुर्शीद : यह इन्हीं का तखल्लुस है। इन्हीं की कही हुई गजल है।

इसके बाद जलसा बर्खास्त हुआ। राजा साहब अंदर रसोई खाने चले गए। मुझसे खुर्शीद की खूब-खूब बातें हुई।

उसने बताया: मेरा कोई कसूर नहीं। राजा साहब और खानम साहब से बहुत दिनों से लाग-डॉट थी। राजा साहब ने कई मर्तबा बुलवाया, मगर खानम ने साफ इनकार कर दिया, आने न दिया। आखिर ऐश बाग के मेले में इनके आदमी लगे हुए थे, मुझे जबरदस्ती उठा लाए। जब से यहीं हूं। हर तरह से मेरी खातिर होती है, हर तरह का आराम है। इन मुए गंवारों में जी तो नहीं लगता, मगर मेरी तबीयत रंडीपन के खिलाफ है। एक आदमी का सहरा है, बाकी सब हुक्म के ताबेदार हैं। और फिर यही मेरा वतन है। इसी इलाके में पैदा हुई थी। यहां की हर चीज मुझे पसंद है।

मैंने पूछा, लखनऊ जाने का इरादा नहीं है? तो कहने लगी कि भई, मुझे तो माफ करो। यहीं रहो। मैंने कहा: मैं न रहूंगी, लखनऊ भी न जाऊंगी। जहां खुदा ले जाएगा, चली जाऊंगी। इसके बाद मैं पंद्रह-बीस दिन तक गढ़ी में रही। फिर एक दिन राजा साहब से मौका पाकर जाने की इजाजत मांगी। उन्होंने पूछा: कहां जाओगी? मैंने कहा: लखनऊ तो हर्गिज न जाऊंगी, वहां जाने का मुंह नहीं। सब हंसेंगे, इसलिए पहले तो कानपुर जाऊंगी, फिर देखा जाएगा।

ग्यारह

सराय के फाटक ही से उसकी निगाह मुझ पर पड़ गई थी। वह मेरे पास चला आया। मेरा हाल पूछा। मैंने फैज अली का हाल पूछा। उसने कहा कि उनको आपके आने की खबर मिल गई है। आज रात को पहर-दोपहर रात गए जरूर आएंगे। यह सुनके मेरा दिल धड़कने लगा। मुझे अब फैज अली का साथ मंजूर न था। मैं समझे बैठी थी कि अब उनसे छुट्टी मिल गई, लेकिन अब वह सर पर आ मौजूद हुए। रात को उनके आने पर थोड़ी-सी बातचीत के बाद उन्नाव से चल निकलने की राय हुई। मैं कर क्या सकती थी! उनके काबू में थी।

थोड़ी देर में डोली एक पक्के शानदार मकान के दरवाजे पर

रुकी। फैज अली ने मुझे वहां उतारा। मकान के अंदर क्या देखती हूं कि एक दालान में दो खुदेरी चारपाइयां पड़ी हैं, एक चटाई बिछी है। मकान का रंग देखकर दिलको परेशानी होने लगी। थोड़ी देर के बाद फैज अली ने कहा कि बाजार से कुछ ले आऊं। मैंने कहा कि जरा जल्दी आना। वह बाजार गए, तो मैं अकेली रह गई। वह जो गए, तो वहीं के हो रहे। न आज आते हैं न कल। घड़ी-दो-घड़ी, पहर-दो पहर, कहां तक इंतजार करूं! दोपहर गुजरी, शाम होने को आई। उन्नाव में सरे-शाम खाना खाया था, रात को घोड़े पर चलने की थकान, नींद का खुमार, सुबह से मुंह में चुल्लू पानी भी नहीं पड़ा था, टुकड़ा भी नहीं खाया था, भूख के मारे दम निकला जाता था।

सूरज डूब गया। अंधेरा होने लगा। आखिर रात होने लगी। मैं सोच रही थी कि या खुदा, अब क्या करूं! इतना बड़ा ढंढार मकान भांय-भांय कर रहा था। खुदा की जात और मैं अकेली थी। यह मालूम होता था कि अब इस कोठरी से कोई निकला, वह सामनेवाले दालान में कोई टहल रहा है, कोठे पर धम-धम की आवाज आई, जीने से कोई खटखट करता उतरा आ रहा है। दो पहर रात हो गई। अब तक अंगनाई और दीवारों पर चांदनी थी। अब चांद भी छुप गया। बिलकुल अंधेरा घुप हो गया। आखिर मैं दोशाले में मुंह लपेटके पड़ रही। फिर कुछ खटका हुआ। रात पहाड़ हो गई, काटे नहीं कटती थी। आखिर ज्यों-त्यों करके सुबह हुई।

सुबह तो अजीब हालत थी। अब लखनऊ की कद्र हुई। दिल में कहती थी कि खुदा किस मुसीबत में जान पड़ी! लखनऊ का ऐश-चैन याद आ रहा था। दोपहर हो गई और फैज अली न आए। इस हालत में कोई चारदीवारी में बैठनेवाली नेक बीवी होती, तो जरूर घुट-घुटके मर जाती। मेरी हया खुली हुई थी, सैकड़ों मर्दों में बैठ चुकी थी। कानपुर न सही, लखनऊ के तो गली-कूचे जानती थी। यहां की सराय देखी थी। मैंने तय किया कि अब मेरी बलाय खाली मकान में बैठे। कुंडी खोल गली में निकल खड़ी हुई।

घर से दस-बीस कदम ही गई हूंगी कि देखती क्या हूं, एक आदमी सरकारी वर्दी पहने घोड़े पर सवार है। दस-पंद्रह सिपाही साथ हैं और उनके दरम्यान मिया फैज अली हैं। मुश्कें कसी हुई हैं, सामने से चले आ रहे हैं। यह माजरा देखके सन्न-सी हो गई। वहीं ठिठक गई, मामला समझ गई। वहीं एक पतली-सी गली नजर आई। उसी में मुड़ गई। एक मस्जिद नजर आई। मैंने दिल में खयाल किया कि सबसे अच्छा खुदा का घर है, थोड़ी देर यहीं जाके ठहरना चाहिए। दरवाजा खुला हुआ था। मैं दन्नाती अंदर चली गई।

वहां एक मौलवी साहब से सामना हुआ। पहले तो समझे कि शायद चढ़ावा चढ़ाने आई है, बहुत खुश हुए। जब मैं चुपके-से जाके सहन के किनारे पैर लटकाके बैठ गई, तो करीब आके पूछने लगे: क्यों बीसाहिबा, आपका यहां क्या काम?

मैं : मुसाफिर हूं, खुदा का घर समझके थोड़ी देर के लिए बैठ गई हूं। अगर नागवार हो, तो चली जाऊं।

मुंह-हाथ धोके अपनी जगह पर आ बैठी। मौलवी साहब से बातें करने लगी। उनकी जात से मुझे मदद मिली।

उनकी मार्फत एक कमरा किराये पर लिया। निवाड़ी पलंग, दरी, चांदनी, छत-पर्दे, तांबे के बर्तन और सब जरूरत का सामान उनके जरिए खरीदा और एक मामा (नौकरानी) खाना पकाने को, एक ऊपर का काम करने को रख लीं। दो खिदमतगार रख लिए और ठाठ से रहने लगी। फिर साजिंदों की तलाश शुरू की। यों तो बहुत-से आए, मगर किसी का हाथ पसंद नहीं आया। आखिर लखनऊ का एक तबलिया मिल गया। यह खलीफा जी के खानदान का शागिर्द था। उसके जरिए से दो सारंगिये बुलवाए।

जब सब ठीक हो गया, तो पहर-डेढ़ पहर रात गए तक कमरे पर गाने-बजाने का चर्चा होने लगा। शहर में यह खबर मशहूर हो गई कि लखनऊ की कोई रंडी आई है। खूब आदमी आने लगे। शायरी भी खूब चमकी। शायद ही कोई ऐसा कमबख्त दिन होगा, जो किसी

जलसे में न जाना हो। मुजरे भी बहुत आते थे। थोड़े ही दिनों में मैंने काफी रुपया कमा लिया। मुझे कानपुरवालों की बोलचाल, लोगों का राह-रवैया पसंद न था। बात-बात में लखनऊ याद आता था। लेकिन आजाद जिंदगी में भी अजीब मजा है कि मैं कभी वापस जाने के बारे में नहीं सोचती थी।

बारह

कानपुर में बसे छह महीने गुजर गए थे। अब शोहरत के ये हाल थे कि लोग बाजारों-गलियों में मेरी गायी हुई गजलें गाते फिरते थे। शाम को मेरे घर पर अच्छा-खासा मजमा रहता था।

यह गर्मियों के दिनों की बात है। कोई दो बजे का वक्त होगा। मैं अपने पलंग पर अकेली लेटी थी। मामा बावर्चीखाने में खर्राटे ले रही थी। एक खिदमतगार कमरे के बाहर बैठा पंखे की डोरी खींच रहा था। खस की टट्टियां सूख गई थीं। मैं आदमी को आवाज दिया चाहती थी कि पानी छिड़क दे, इतने में कमरे के नीचे किसी ने आकर पूछा: लखनऊ से जो रंडी आई है, उसका कमरा यही है। दुर्गा बनिए ने, जिसकी दुकान नीचे थी, जवाब दिया: हां यही है। फिर पूछा गया कि दरवाजा कहां है? दुर्गा ने बता दिया।

थोड़ी देर बाद एक बड़ी बी-कोई सत्तर बरस का सिन होगा, गोरी-सी, मुंह पर झुर्रियां पड़ी हुई, बाल जैसे रुई का गोला, कमर झुकी हुई, सफेद मलमल का दोपट्टा, तंजेब का कुर्ता, नैनसुख का पाजामा बड़े-बड़े पायचों का पहने, हाथों में चांदी के मोटे-मोटे कड़े और उंगलियों में अंगूठियों डाले कुए, हांपती-कांपती आई और सामने फर्श पर बैठ गई।

बड़ी बी : लखनऊ से तुम्हीं आई हो?

मैं : जी हां। इतना कहके मैं पलंग के नीचे उतर आई। पानदान आगे खिसकाया। आदमी को हुक्का लाने के लिए आवाज दी।

बड़ी बी : हमारी बेगम ने तुम्हें याद किया है। लड़के की सालगिरह है। जनाना जलसा होगा, तुम्हारा मुजरा तय किया है।

मैं : बेगम साहिबा मुझको क्या जानें?

बड़ी बी : ऐ, तमाम शहर में तुम्हारे गाने की धूम हैं। तुम्हारे बुलाने का यह भी सबब है कि बेगम साहिबा खुद भी लखनऊ की रहनेवाली हैं।

मैं : और आप भी तो लखनऊ की हैं?

बड़ी बी : तुमने क्योंकर जाना?

मैं : कहीं बातचीत का करीना छिपा रहता है?

बड़ी बी : हां, मैं भी वहीं की रहनेवाली हूं। अच्छा, तो अपना मुजरा बताओं, अभी बहुत काम पड़ा है, मुझे देर होती है।

मैं : मुजरा तो मेरा खुला हुआ है। सब जानते हैं, पचास रुपये लेती हूं। मगर बेगम साहिबा क्योंकि लखनऊ की रहनेवाली हैं और उन्होंने कद्र करके बुलया है, तो उनसे कुछ न लूंगी। जलसा कब है?

बड़ी बी : आज शाम को। अच्छा तो यह खिचड़ी का तो ले लो, बाकी वहां आके समझ लेना।

मैंने रुपया ले लिया और कहा: इसकी कोई जरूरत न थी। मगर इस खयाल से कि बेगम साहिबा बुरा न माने रुपया लिए लेती हूं। अच्छा, अब यह कहिए कि मकान कहां है?

बड़ी बी : मकान तो जरा दूर है, नवाबगंज में है। आदमी आएगा, उसी के साथ चली आना। मगर इतना खयाल रहे कि तुम्हारे मिलनेवाले मर्दजात साथ न हों।

मैं : और साजिंदे?

बड़ी बी : साजिंदे, खिदमतगार, इनकी मनाही नहीं है, कोई और न हो।

मैं : जी नहीं, यहां मेरा कौन है, जो साथ लाऊंगी!

इतने में खिदमतगार है हुक्का तैयार किया। मैंने इशारा किया, बड़ी बी के सामने लगाओ। बड़ी बी मजा ले-लेके हुक्का पीने लगीं। मैंने पान लगाया, डली का चूरा एक डिबिया में था, उसकी एक चुटकी डाली और इलायची का दाना पानदान की ढकनियों का कुचलके गिलौरी बनाके दी।

बड़ी बी : हाय बेटा, दांत कहां से लाऊं, जो पान खाऊं!

मैं : आप खाइए तो, मैंने आप ही के लायक बनाया है।

बड़ी बी पान खाके बहुत खुश हुई। कहने लगी: हाय! हमारे वतन की तमीजदारी!

बड़ी बी दुआएं देके और ताकीद करके कि दिन रहते आ जाऊं, चली गई। वाकई, वतन की कद्र बाहर जाके होती है। कानपुर में सैकड़ों जगह मुजरे हुए, मगर जाने का शौक अभी तक नहीं हुआ था, जैसे उस दिन था। जी चाहता था कि जल्दी से शाम हो। गर्मियों के दिन पहाड़ होते हैं। खुदा-खुदा करके दिन कटा। जब आदमी आया, तो मैं तैयार थी। साजिंदों को बुला रखा था। सवार होके रवाना हो गई।

बेगम का मकान शहर से कोई घंटा-भर के रास्ते पर था। छह बजे मैं वहां पहुंची। नहर के किनारे एक बाग था, जिसके चारों तरफ मेंड पर कांटेदार पेड़ लगे थे, बिलकुल दीवार बन गई थी। बाग अंग्रेजी तरह का था, ताड़-खजूर के खूबसूरत पेड़ लगे थे, चारों तरफ हरी घास थी, जगह-जगह कंकरों की पहाड़ियां बनी हुई थीं, जिन पर पहाड़ी पेड़-पौधे लगे थे। पक्के तालाब बने थे, जिनमें साफ मोती-सा पानी बह रहता था। माली पानी दे रहा था।

सालगिरह की रस्म कोठी में हुई। अंदर से औरतों के गाने की आवाज आई। बाहर मैंने मुबारिकबाद गाया। फिर आप-ही-आप एक श्याम कल्याण की चीज शुरू कर दी। बेगम साहिबा ने एक अशरफी और पांच रुपये इनाम के भेजे। थोड़ी देर में शाम हो गई, चांद निकल आया, चांदनी फैल गई। तालाब के पानी में चांद का अक्स लहरों से मिलकर खूब दीख रहा था। तालाब से मिला हुआ ऊंचा चबूतरा था, चारों तरफ गिरकर सुहावनी आवाज कर रहा था। चबूतरे पर सफेद चांदनी का फर्श बिछा हुआ था। उसी के सामने हम लोग बिठाए गए। सामने चिकें पड़ी हुई थीं। उसके पीछे बेगम साहिबा तशरीफ रखती थीं। गाने का हुक्म हुआ। मैंने केदारे की एक चीज शुरू की दी। बड़ी देर तक गाती रही।

उसके बाद साजिंदों को हुक्म हुआ कि तुम लोग शामिर्द पेशे (नौकरों के रहने की जगह) में चले जाओं, खाना भेज दिया जाएगा, अब यहां जनाना होगा। जब वे लोग चले गए तो बेगम साहिबा चिक से बाहर तशरीफ लाई। मैं इज्जत दिखाने के लिए उठ खड़ी हुई। वह गावतकिए के सहारे बैठ गई और मुझे सामने बैठने का इशारा किया। मैं तस्लीम करके बैठ गई और बहुत गौर से बेगम साहिबा की सूरत देखने लगी। पहले तो बाग और वहां की खूबसूरती देखकर परिस्तान का शुबहा हुआ था, अब यकीन हो गया कि परी मेरे सामने बैठी है। सैकड़ों औरतें मेरी नजर से गुजरी होंगी, मगर इस बला की खूबसूरती, या अमीरात का रोब, यह शान यह भारी-भरकमपन, खुशमिजाज सूरत और ऊपर से यह सादगी कहीं न देखी थी।

मैं उनकी तरफ देखा की। वह भी मेरी तरफ बराबर देख रही थीं। एक बार जो आंखें चार हुई, तो मुझे एक साथ कुछ खयाल आया कि सूरत पहचानी हुई है। मगर मैं तो उनकी खूबसूरती को ही निहारती रही, जिसे सादगी और भी बढ़ाए दे रही थी और वह भी गोया मुझे पहचानने की कोशिश कर रही थीं। मुझे बार-बार ख्याल आता था, मगर वहां कहने का मौका नहीं था। एक महरी पीछे खड़ी पंखा झल रही थी, दो सामने खड़ी थीं; एक के हाथ में चांदी की लुटिया और दूसरी के हाथ में खासदान था।

बड़ी देर तक न बेगम साहिबा ने मुझसे बातचीत की और न मैं कुछ बोल सकी। आखिर बातचीत का सिलसिला इस तरह शुरू हुआ कि उन्होंने मेरा नाम पूछा। मैंने हाथ बांधके नाम बताया। फिर वह पूछने लगीं कि क्या खास लखनऊ मकान है?

यह सवाल कुछ इस तरह किया गया था कि मुझे जवाब देना मुश्किल हुआ। अगर कहती कि लखनऊ में ही मेरा मकान है, तो एक शुबहा, जो मेरे दिल में पैदा हुआ था, यह दूर न हो पाता, मतलब खत्म हो जाता; और कहती कि फैजाबाद, तो बेमौके राज खुल जाता। आखिर बहुत सोच-समझके मैंने कहा: जी हां, परवरिश लखनऊ में पाई है।

कुछ देर बाद खाने के लिए उठे। बेगम ने पूछा तो मालूम हुआ

कि साजिंदों को खाना भेज दिया गया है। खाने के बाद इधर-उधर की बातें हुआ कीं। बेगम ने चुपके-से मेरे कान में कहा: मुझे तुमसे बहुत-सी बातें करनी हैं, मगर इस वक्त मौका नहीं। मैंने कहा: अर्ज तो मुझे भी बहुत कुछ करना है।

कुछ देर फिर गाना हुआ। इस बार साजिंदे नहीं थे, बेगम की एक खास नौकरानी थी, वह तबला खूब बजाती थी। काफी देर हो गई, तो

गाना बंद हुआ, मगर बेगम साहिबा की बातें चला कीं। चांद छुप गया। अंधेरा हो गया। चारों तरफ सन्नाटा था। इसी दौरान गीदड़ बोलने की आवाज आने लगी, जिससे दिल हिल गए। हम लोग चुप हो गए। पेड़ों के अंधेरे की तरफ देखा न जाता था। इतने में कुत्ते भौंकने लगे। अब तो डर के मारे आवाजें बंद हो गई। इतने में बेगम ने गावतकिए से जरा ऊंची होके सामने कुछ देखा और चीख मारके मसनद पर गिर पड़ीं।

सब औरतें भी उसी तरफ देखने लगीं। मैंने जो नजर घुमाई, तो क्या देखती हूं कि सामने से दस-पंद्रह आदमी मुंह पर ढांके-बांधे हुए चले आते हैं, हाथों में तलवारें हैं। औरतों के चिल्लाने से बेगम के नौकर-चाकर, खिदमतगार, सिपाही, कोई निहत्था, कोई लाठी लिए इसी तरफ आ गए। मगर डाकू ज्यादा थे और यहां आदमी कम। नौकरों ने औरतों को पीछे कर दिया और लड़ने-मरने पर आमादा होकर खड़े हो गए। औरतों में किसी को होश न था, सब गश खाए पड़ी थीं। एक मैं, खुदा जाने क्या पत्थर का दिल था कि बैठी रही, गोकि मारे हौल के दम निकला जाता था।

बेगम के आदमियों में से, जिनके पास हथियार थे, वे आगे बढ़ने को ही थे कि एक सरफराज नाम के सिपाही ने उन्हें रोका और कहा: ठहरो, जल्दी न करो, पहले इनको अंदाज लेने दो। फिर उसने चिल्लाकर डाकुओं से कहा: तुम लोग किस इरादे से आए हो?

एक डाकू : जिस इरादे से आए हैं, तुम्हें अभी मालूम हो जाएगा।

सरफराज : वहीं मैं पूछता हूं, जान चाहते हो या माल?

डाकू : हमें जान से कोई गरज नहीं, कोई बाप-मारे का बैर नहीं है। हां, जिस इरादे से आए हैं उसमें बीच में आओगे, तो देखा जाएगा।

सरफराज (कुछ सख्त होकर): तो क्या बहू-बेटियों की इज्जत लोगे? अगर यह चाहते हो तो फिर हो जाए...

सरफराज बात पूरी न कर पाया था कि डाकू ने जवाब दिया: ना साहब, किसी की बहू-बेटी से क्या वास्ता! क्या हमारे बहू-बेटियां नहीं हैं? औरतों को कोई हाथ नहीं लगा सकता।

डाकू की आवाज पर मुझे कुछ शुबहा-सा हो रहा था।

सरफराज : तो फिर हम तुम्हें कोठी के कमरों की कुंजियां मंगाए देते हैं। जो औरतें वहां हैं, उनको यहां बुलवाए लेते हैं। घर के मालिक की बेगम यहीं हैं। तुम शौक से वहां जाओ, जो चाहे ले जाओ, लेकिन औरतों की तरफ आंख न उठाना।

डाकू : इसमें दगा न हो।

सरफराज : सिपाही का पूत दगा नहीं देता।

डाकू आगे बढ़ा : तो कुंजियां लाओ!

इतना कहना था कि मेरी-उसकी निगाह चार हुई। मैंने तो पहले ही पहचान लिया था, बोलना भी चाहती थी, मगर दहशत ऐसी सवार थी कि मुंह से बोल न निकला था। नजरें मिलते ही उसने पहचान लिया। उसने आगे बढ़के कहा: भाभी, तुम यहां कहां?

मैं : जब से तुम्हारे भाई कैद हुए, मैं यहीं हूं।

फजल अली : यहां किसके पास?

मैं : रहती तो शहर में हूं, मगर मेरी एक बहन बेगम साहिबा के पास नौकर हैं, उनसे मिलने आई थी।

फजल अली : कहां है?

मैं : यहीं हैं, जबसे तुम लोगों के आने का हंगामा हुआ, बेचारी गश में पड़ी हैं, पर्दानशीन हैं।

फजल अली : (अपने साथियों से) यहां से एक पैसे की चीज लेना मेरे लिए हराम है और न मैं इस मामले में तुम्हारे साथ हूं।

एक डाकू : तो फिर आए क्यों थे?

फजल अली : किसी का कुछ खयाल भी है? मुझसे तो नहीं हो सकता कि फैजू भाई की आशना और उसकी बहन का माल लूटें या जिनका वो नमक खाती हैं, उनको तकलीफ पहुंचाएं। वह जेल में सुनेगा तो क्या कहेगा!

इस पर डाकुओं में आपस में झगड़ा होने लगा। सब फजल अली

का दबाव मानते थे, बगैर उसके कोई दम नहीं मार सकता था। मगर खाली हाथ फिर जाना भी कोई ऐसी-वैसी बात नहीं थी। डाकू गुल मचाने लगे: फाकों मरते हैं, एक मौका मिला, तो इसे खां साहब छोड़ देते हैं, आखिर खाएंगे क्या, पेट कहां से पालें?

इतने में एक आदमी उसके गिरोह में यह कहता हुआ निकला: खां साहब, मैं भी तुम्हारे साथ हूं।

गौर से देखा, तो मालूम हुआ वह फैज अली का साईस है। मैंने उसे बुलाया, अलग ले जाके बातें कीं और वह अशरफी और रुपए, जो बेगम साहिबा ने इनाम दिए थे, चुपके से उसे दे दिए।

तेरह

घर पर आके देखती हूं कि मेरा ख्याल सही था। बुआ हुसैनी गले से लिपट गई, रोने लगीं। मैं भी रोने लगी।

बुआ हुसैनी : अल्लाह बेटी, क्या पत्थर दिल कर लिया है! किसी की मुहब्बत ही नहीं।

मैं अपनी जगह पर शर्मिंदा थी। क्या जवाब देती!

मामूली बातचीत के बाद बुआ हुसैनी ने उसी दिन लखनऊ चलने का इरादा कर दिया। मैंने लाख कहा कि ठहर जाओ, जल्दी क्या है! पर उन्होंने न माना। ज्यादा जल्दी की वजह यह थी कि मौलवी साहब बीमार थे, बुआ हुसैनी को दम-भर ठहरना बुरा लग रहा था, वह तो मेरी मुहब्बत थी कि जो चली भी आई। वह दिन कानपुर से सामान, तोहफे वगैरा खरीदने और मकान का किराया देने, नौकरों का हिसाब करने और लेने देने में चला गया। पूरी शिकरम किराये पर ली, जरूरी सामान उस पर लादा, बाकी नौकरों को दिया। दूसरे दिन लखनऊ पहुंच गई। फिर वहीं मकान, वही कमरा, वही दाना-पानी:

दश्ते-जनूं की सैर में बहला हुआ था दिल
जिंदा में लाए फिर मुझे अहबाब घेर के।

फिर रईसों-अमीरों, नवाबों-शहजादों की मुजराइयों में नाम हो गया। सोजख्वानी के लिए बड़े-बड़े महलों में बुलाई जाती। सन्, 57

Books.Jakhira.com

का इंकलाब आया। लखनऊ की शाही फौज ने मिर्जा बिरजीस कदर को बादशाह बनाया। मैं भी मुबारिकबाद देने गई। उस जमाने में शहर में अंधेर हो रहा था, वहीं इसके गोली लगी, कहीं उस पर कयामत आई। मगर हमारे मकान के दरवाजे पर एक फौजी अफसर रहते थे। इस थोड़े दिन की हुकूमत में बिरजीस कदर की ग्वारहवीं सालगिरह बड़ी धूमधाम से मनाई गई। उस मौके पर मैंने एक गजल गायी थी, जिसका पहला शेर था:

दिल हजारों के तेरी भोली अदाएं लेंगी,

हसरतें चाहने वालों की बलाएं लेंगी

ग्यारह शेर कहे थे, मगर अब इसके सिवा याद नहीं। बहुत दिन तक गजल लिखी पानदान में रखी रही। लेकिन जिस दिन बिरजीस कदर की मां बेगम हजरत महल केसर बाग से निकली हैं और मय शाही फौज के शहर छोड़कर कूच किया है, उस दिन के हौल में वह निगोड़ा पानदान क्या, जूतियां और दोपट्टे तक खो गए। मैं भी केसर बाग से बेगम साहिबा के साथ निकली; बौंडी तक गई। बौंडी में कयाम हुआ, वहां का बाजार लखनऊ का चौक हो गया लखनऊ से भागकर सब वहीं पहुंच गए। जब बहराइच से अंग्रेजी फौज ने बौंडी पर हमला किया, तो सभी मारे गए। बेगम साहिबा बिरजीस कदर को लेकर नेपाल की तरफ निकल गई। मैं जान बचाके हजार मुश्किल से फैजाबाद पहुंची। पहले सराय में उतरी, फिर एक कमरा किराये पर ले लिया, मीरासी रख लिए, गाना-बजाना शुरू हुआ।

फैजाबाद में रहते हुए छह महीने हो गए। वहां की अबोहवा बहुत माफिक थी, दिल लगा हुआ था। शहर-भर में मेरे गाने की धूम थी। जब मुजरा होता, तो हजारों आदमी टूट पड़ते। मेरे कमरे के नीचे लोग तारीफें करते हुए निकलते। मैं खूब खुश होती। कभी-कभी बचपने की बातें याद आतीं। लेकिन कलेजा पत्थर का हो चुका था, चुप हो जाती। फिर मां-बाप की तस्वीर आंखों के सामने से गुजर जाती, खयाल आता कि मालूम नहीं जिंदा हैं या मर गए। लेकिन सोचती, मुझसे क्या मतलब, वह और दुनिया में, मैं और दुनिया में। लखनऊ की याद भी

Books.Jakhira.com

सताती, मगर जब इंकलाब का खयाल आता, दिल भर जाता। सोचती कि खानम जीती होंगी, तो अब उनसे क्योंकर निबाह होगा! यह भी खयाल आता, कहीं बागियों में नाम न लिखा हो, जो जाऊं, तो मुसीबत में फंसूं।

एक दिन कमरे पर बैठी हुई थी कि एक अधेड़ उम्र शरीफ तशरीफ लाए। बातचीत के दौरान मालूम हुआ कि बहूबेगम साहिबा के खानदानवालों में हैं। मैंने मकबरे की रोशनी का जिक्र करके पूछा: पुराने नौकरों में अब कोई रह गया है?

शरीफ : अक्सर मर गए। नए-नए नौकर हैं। अब वह कारखाना नहीं रहा। इंतजाम है।

मैं : पुराने नौकरों में एक जमादार थे?

शरीफ : हां थे, मगर तुम उन्हें क्या जानो?

मैं : गदर से पहले एक बार मुहर्रमों में फैजाबाद आई थी। मकबरे पर रोशनी देखने गई थी। उन्होंने बड़ी खातिर की थी।

शरीफ : वही जमादार न, जिनकी लड़की निकल गई थी।

मैं : मुझे क्या मालूम (दिल में हाय, अफसोस अब तक मशहूर है।)

शरीफ : यों तो कई जमादार थे, मगर गदर से पहले रोशनी का इंतजाम उनमें ही जिम्मे था।

मैं : एक लड़का भी था उनके?

शरीफ : तुमने लड़के को कहां देखा?

मैं : उस दिन उनके साथ था। ऐसी शक्ल कम मिलती है। मैंने देखकर समझ लिया था कि उनका लड़का होगा।

शरीफ : जमादार गदर से पहले ही मर गए। अब उनकी जगह पर लड़का है।

इसके बाद बात टालने के लिए मैंने और कुछ हालात इधर-उधर के पूछे। थोड़ी देर बातें किया किए। फिर दो गाने सुनकर वह चले गए, तो मैं बाप के मरने पर रात-भर रोया की। बहुत जी चाहा कि भाई को जाकर देख आऊं।

दो दिन बाद एक मुजरा आया। वहां गई, तो देखा कि बहुत पुराना इमली का पेड़ है, उसी के नीचे शामियाना ताना गया था। चारों तरफ बहुत बड़ा मजमा था, मगर लोग कुछ ऐसे-ही-वैसे थे। कनातों के पीछे खपरैलों में औरतें थीं। उस जगह को देखकर तबीयत बहुत परेशान होती थी, दिल उमड़ा चला आता था, रह-रहकर खयाल आता था कि यही मेरा मकान है, यही वह इमली का पेड़ है, जिसके नीचे मैं खेलती थी। जो लोग महफिल में शरीक थे, उनमें से बाज आदमी ऐसे मालूम होते थे कि पहचाने हुए हों।

मेरा पहला मुजरा नौ बजे शुरू हुआ और बारह बजे तक चला किया। गाने के बाद मैं शामियाने के बाहर निकली, घरों की कतार को देखा। कुछ और तरह की थी, जिससे खयाल हुआ कि शायद वह जगह न हो। एक मकान के दरवाजे को गौर से देखा की। दिल को यकीन हो गया, यही मेरा मकान है। जी चाहता था कि घर में घुस जाऊं, मां के कदमों में गिर जाऊं। मगर हिम्मत न होती थी, क्योंकि मैं जानती थी कि कस्बों में रंडियों से परहेज करते हैं और बाप-भाई की इज्जत का खयाल था। फिर खयाल आया कि हाय, गजब है, एक दीवार की आड़ है, उधर मेरी मां बैठी होंगी और इधर मैं उन्हें देखने के लिए तड़प रही हूं, एक नजर देखना भी मुमकिन नहीं!

इसी उधेड़बुन में थी कि एक औरत ने आके पूछा : तुम्हीं लखनऊ से आई हो?

मेरा कलेजा हाथों उछलने लगा। **मैंने कहाः** हां।

औरतः अच्छा, तो इधर चली आओ, तुम्हें कोई बुलाता है।

मैं अच्छा कहके साथ हो ली। एक-एक पांव गोया सौ-सौ मन का हो गया था, कदम रखती थी कहीं और पड़ता था कहीं और। वह औरत उस मकान के दरवाजे पर मुझे ले गई, जिसे मैं अपना मकान समझती थी। मकान की ड्योढी पर मुझको बिठा दिया गया। अंदर के दरवाजे पर टाट का परदा पड़ा हुआ था। उसके पीछे दो-तीन औरतें थीं। वहीं से आवाज आईः लखनऊ से तुम्हीं आई हो?

मैं : जी हां।

अंदर से पूछा गया : तुम्हार नाम क्या है?

जी में आया, बचपन का आसान नाम बता दूं, मगर दिल को थाम लिया। **कहा :** उमराव जान।

पूछा गया : तुम्हारा वतन खास लखनऊ है?

अब मुझसे दिल पर काबू न किया जा सका। आंखों से आंसू निकल पड़े। **कहा :** असली वतन तो यही है, जहां खड़ी हूं।

पूछा गया : तो क्या फैजाबाद की रहनेवाली हो?

मेरी आंखों से आंसू बराबर जारी थे। बड़ी मुश्किल से मुंह से निकला: जी हां।

पूछा गया : तुम जात की पतुरिया हो?

मैं : जात की पतुरिया तो नहीं हूं, तकदीर का लिखा पूरा कर ही हूं।

रुआंसी आवाज में पूछा गया : तो रोती क्यों हो? आखिर तुम कौन हो?

मैंने आंसू पोंछते हुए कहा: क्या बताऊं कौन हूं, कुछ कहते नहीं बनता।

इतनी बातें मैंने बहुत दिल संभालके की थीं। अब बिलकुल काबू न कर सकी, सीने में दम घुटने लगा। दो औरतें परदे के बाहर निकलीं। एक के हाथ में चिराग था। उसने मेरे मुंह को हाथ से थामके कान की लौ के पास गौर से देखा और दूसरी को दिखाके कहा: क्यों, हम न कहते थे! दूसरी: हाय मेरी अमीरन! कहके लिपट गई।

दोनों मां-बेटियों चीखें मार-मारके रोने लगीं। हिचकियां बंध गई। आखिर दो औरतों ने आकर छुड़ाया। मैंने अपना सारा किस्सा दुहराया। मां बैठी सुना कीं और रोया की। बाकी रात हम लोग वहीं बैठे रहे। सुबह होते ही मैं विदा हुई। चलते वक्त मां ने जिस निगाह से देखा, मैं कभी नहीं भूल सकती। मगर मजबूरी थी। दिन की रोशनी निकलने से पहले मैं सवार होकर अपने कमरे पर चली आई मेरा दूसरा मुजरा सुबह होने को था, मगर मैंने घर आकर कुछ रुपये वापस करा दिए और बीमारी का बहाना कहला भेजा। उन्होंने आधा रुपया फेर दिया। उस रोज दिन-भर जो मेरा हाल रहा, खुदा ही जानता है। कमरे के दरवाजे बंद किए दिन-भर पड़ी रोया की।

दूसरी शाम को कोई आधी घड़ी रात गए एक जवान-सा आदमी, सांवली रंगत, बीस-बाईस का सिन, पगड़ी बांधे, सिपाहयों-जैसी वरदी पहने मेरे कमरे पर आया। मैंने हुक्का भरवा दिया। पानदान में पान न थे। मामा को बुलाके चुपके से कहा: पान ले आओ। कोई और उस वक्त न था, वह थी और मैं थी।

जवान : कल तुम्हीं मुजरे को गई थीं?

मैं : हां।

इतना कहके उसके चेहरे की तरफ जो देखा, तो यह मालूम होता था कि आंखों से खून टपक रहा है।

जवान (सर नीचा करके): खूब घराने का नाम चमकाया!

मैं अब समझी कि यह कौन था। **कहा** : इसको तो खुदा ही जानता है।

जवान : हम तो समझे कि तुम मर गई, मगर तुम अब तक जिंदा हो।

मैं : बेगैरत जिंदगी थी, न मरी। खुदा जल्दी मौत दे।

जवान : इस जिंदगी से तो मौत लाख दरजा अच्छी है। चुल्लू-भर पानी में डूब मरना था, कुछ खाके सो रहतीं।

मैं : खुद इतनी समझ न थी, न आज तक किसी ने यह नेक सलाह दी।

जवान : अगर इतनी गैरतदार थीं, तो इस शहर में कभी न आतीं और आई भी थीं, तो उस मुहल्ले में मुजरे को कभी न जातीं, जहां की रहनेवाली हो।

मैं : हां, इतनी खता जरूर हुई, मगर मुझे क्या मालूम था!

जवान : अब तो मालूम हो गया।

मैं : अब क्या होता है!

जवान (बहुत गुस्से से): अब क्या होता है! अब क्या होता है!! अब (झपटकर कमर से छुरी निकालकर मेरी गरदन पर रख दी) यह होता है!

मैं तो चुपचाप थी, मगर इतने में मामा बाजार से पान लेकर आई, जो यह हाल देखा, तो लगी चीखने: अरे दौड़ों, बीबी को कोई मारे डालता है।

जवान (छुरी गले से हटाकर): जाओ, औरत को कौन मारे और औरत भी कौन, बड़ी बहन...

इतना कहके वह धाड़े मार-मारके रोने लगा। मैं पहले ही से रो रही थी। मामा ने यह देखा, तो चुपकी हो रही। मैंने उसे इशारे से मना किया तो वह एक किनारे पर खड़ी हो गई।

जब दोनों खूब रो-धो चुके, जो जवान ने हाथ जोड़के कहा: अच्छा, तो इस शहर से कहीं चली जाओ।

मैं : कल चली जाऊंगी, मगर एक मर्तबा मां को और देख लेती।

जवान : अब दिल से दूर रखो। माफ करो। कल अम्मां ने तुम्हें घर पर बुला लिया। मैं न हुआ, वरना उसी वक्त वारा-न्यारा हो जाता। मुहल्ले-भर में चर्चे हो रहे हैं।

मैं : जान से तो मैं डरती नहीं, मगर हाय तुम्हारी जान का ख्याल है! तुम अपने बाल-बच्चों पर सलामत रहो। अगर जीते रहे, तो कभी-कभी खैर आफियत सुन लिया करेंगे।

जवान : खुदा के लिए किसी से हमारा जिक्र न करना।

मैं : अच्छा।

वह जवान तो उठके चला गया। मैं अपने गम में पड़ी रही। मामा ने और जान खाना शुरू किया कि कौन था। मैंने झुंझलाके कह दिया, "रंडी के मकान पर हजार आदमी आते हैं। कोई थे, तुम्हें क्या!" किसी तरह से मामा को टाल दिया। जैसे-तैसे रात काटी। सुबह उठते ही लखनऊ चलने की तैयारी शुरू कर दी। शामों-शाम शिकरम किराये करके रवाना हो गई।

चौदह

लखनऊ में आकर खानम के मकान पर उतरी। वहीं चौक, वही कमरा, वही हम। बाहर की दुनिया कुछ बदल गई। पुराने आनेवालों में कुछ कलकत्ता चले गए थे, कुछ और शहरों में निकल गए थे। शहर में नया इंतजाम था, नए कानून जारी थे। आसफुद्दौला के इमामबाड़े में किला बना हुआ था। मैं दो-चार महीने खानम के मकान में रही। इंकलाब के साथ खानम की तबीयत भी कुछ बदल गई। मिजाज में कुछ बेपरवाही आ गई थी। जो रंडियां अलग हो गई थीं, उनका जिक्र ही क्या, जो साथ रहती थीं, उनके रुपये-पैसे से ही कोई वास्ता-गरज न थी। गदर के दौरान उनका मकान भी लुटा था, मगर फिर भी कुछ कमी न थी। जितना गया उतना फिर आ गया। इसलिए जब मैं अलहदा हुई, तो उनके मिजाज के खिला न गुजरा। मैं दूसरे-तीसरे उनको जाकर सलाम कर आती थी। वह भी अपने को बराबर मेरा सरपरस्त समझती रहीं।

Books.Jakhira.com

जब मैं फैज अली के साथ भागनेवाली थी, तो उसके दिए तमाम जेवर, अशरफियां और रुपये, जो कम-से-कम पंद्रह हजार का माल होगा, एक पिटारी में बंद किया और ऊपर से खूब कपड़ा और गूदड़ लपेटके एक पोटली बनाई। खानम के मकान के पिछवाड़े एक मीर साहब रहते थे। इमामबाड़े के कोठे की दीवार पर चढ़ जाओ, तो उनके मकान का सामना होता था। मैं अकसर चारपाई लगाकर उस दीवार पर चढ़ जाया करती थी और मीर साहब की बहन से बातें किया करती थी। वह पिटारी गूदड़ों में लपेटके मैंने मीर साहब की बहन को दे दी थी और हाथ जोड़के कहा था: इसको हिफाजल से रखना। उन्होंने फैजाबाद से लौटने पर वह पिटारी मेरे हवाले कर दी। गदर में तमाम दुनिया के घर लुटे, अगर कह देती कि लुट गई, तो मैं उनका क्या कर लेती? मगर वाह री बीबी! एक पैसे तक का नुकसान नहीं किया। ऐसे ही लोगों से जमीन-आसमान थमते हैं, नहीं तो कब की कयामत आ जाती।

वह दौलत गदर में तो न लुटी, मगर मेरे पास भी न रही। गदर में लुट जाती, तो इतना अफसोस न होता। एक मेहरबान थे, मैं अपनी जबान से क्यों नाम लूं? हालांकि दूसरे लोग कहते हैं कि गौहर मिर्जा थे। उन्होंने अपना घर भर लिया। खुद चैन से रहते हैं, मुझे पूछते भी नहीं। लेकिन मुझे कोई शिकायत नहीं। रंडी से जब तक वास्ता रहा, आते रहे; जब वास्ता न रहा, आना छोड़ दिया। उनकी बीवी नेक हैं। उनसे मुझे मुहब्बत हो गई है, वह बुला लेती हैं, मैं चली जाती हूं। अब भी जो होता है, दे ही आती हूं। जो माल गया, उसकी कोई हकीकत नहीं। हाथों का मैल था, अब भी कोई मैं नंगी-भूखी नहीं रहती, अपने पैदा करनेवाले की बलिहारी! बस, बात-की-बात है।

जब मेरी दौलत के चर्चे थे, उसी जमाने में नवाब साहब महमूद अली खां आते थे। उनसे तपाक बढ़ा। पहले नौकर रखा, फिर मुझे घर रखना चाहते थे। मैं अपनी जबान से न कहूंगी कि मेरे माल पर नजर थी, गैर यही कहते हैं। मैंने इनकार किया, तो नवाब साहब ने अदालत में दावा दायर कर दिया कि मुझसे निकाह हुआ है। अजीब आफत में

जानफंसी। काफी रुपया खर्च हो गया। पहली अदालत का फैसला नवाब साहब के हक में हुआ। मैंने अपील की, तो नवाब साहब हार गए। फिर उन्होंने अपील की और वह फिर हारे। इस मुकदमेंबाजी में एक चलते-पुर्जे पैरोकार अकबर अली खां से बहुत मदद मिली। वह हर तरह का जालसाजी का काम करते थे। मुकदमेंबाजी में सिर्फ सच्चाई से नहीं जीता जा सकता। सच्चा वाकया यह था कि नवाब का दावा बिलकुल झूठा था। लेकिन झूठी गवाही बनाकर शुरू में वह जीत गए थे। उनके मुकाबले अकबर अली खां के आने पर ही मैं कामयाब हो सकी।

अकबर अली खां ने मुझसे एक पैसा न लिया, बल्कि खुद अपने पास से ही खर्च किया होगा। जब पहली अदालत से मैं हार गई, तो अपील करने तक मुझे छुपकर रहना पड़ा। इस जमाने में अकबर अली खां ने मुझे अपने यहां रखा। उनकी बीवी बड़ी समझदार थीं। मुझे बहुत मानती थीं। मेरी वजह से पास और मुहल्ले की औरतों से झगड़े भी हुए। उनके यहां रहकर मुझे मालूम हुआ कि शरीफ आदमियों में छुपे-छुपे किस तरह एक-दूसरे की बहू-बेटियों से वास्ता रहता है। और इसी तरह से शरीफ मर्द और औरतें हमें गाली देती हैं! मेरा तो एक-एक बात गुनहगार है; मगर वहां कम गुनाह नहीं होते। अकबर अली खां की बीवी ये सब समझती थीं।

खैर, यह सब किस्सा खत्म होने के बाद मैं फिर अपने मकान पर आकर रहने लगी। पैदा करनेवाला खिलाता है। जो कुछ नाच-मुजरे आ जाते थे, उन पर गुजर-बसर थी। वैसे मैं किसी से कम खुशहाल न थी। साज-समान, नौकर-चाकर, सब कुछ था। रजब की नौचंदी थी। मेरे दिल में आया, चलो दरगाह चलें, जियारत ही करें। सरे-शाम सवार होकर पहुंची। बड़ा मजमा था। मैं काफी देर वहां रही। जब वापस चलने को थी, तो देखती क्या हूं कि कानपुरवाली बेगम साहिबा चली आती हैं। बड़े ठाठ हैं, भारी जोड़ा पहले हुए हैं, चार-पांच महरियां साथ हैं, कोई पंखा झलती आती है, तो कोई हाथ में खासदान लिए है। नजदीक आकर उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखा और कहा: अल्लाह

उमराव! तुम तो बड़ी बेमुरव्वत निकलीं। कानपुर से जो गायब हुई तो आज मिली, वह भी इत्तफाक से।

मैं : क्या कहूं! जिस रात को आपके बाग में रही थी, उसी सुबह को लखनऊ से लोग आके मुझे पकड़ लाए। फिर भागड़ हुई, खुदा जाने कहां-कहां मारी फिरी।

बेगम : अब तो हम-तुम दोनों लखनऊ में हैं।

उन्होंने मुझसे अपने यहां आने की जिद की। मैंने अगले जुमेरात का वायदा किया। उन्होंने मेरा पता पूछा, मैंने उनका। काफी देर बातें हुआ कीं। आखिर उनकी महरी ने कहा: सवारी तैयार है। और वह चली गई। मैं भी चली आई।

दूसरे दिन खानम का आदमी आया। उनकी तबीयत कुछ खराब थी। उन्हें अपनी सभी नौचियों से मुहब्बत थी, मुझसे तो खासतौर से। जिस कमरे में मैं रहती थी, वह बराबर मेरे लिए बंद रहता था। मैं अलग रहते हुए भी जब चाहती, वहां आकर रहने लगती थी। साल-भर कहीं रहूं, मुहर्रम में वहीं रहती थी। जब तक खानम जिंदा रहीं, मेरे नाम का ताजिया बराबर रखवाती थीं। उनकी बीमारी का हाल सुनते ही मैं फौरन चली गई। बिस्मिलला जान से खानम को बहुत तकलीफ पहुंची थी, मगर आखिर तो औलाद थीं। वह भी मौजूद थीं। अमीर जान ने भी अलहदा कमरा ले लिया था, मगर बराबर आती रहती थीं, इस वक्त भी आ गई। गदर के बाद खुर्शीद जान वापस आ गई थीं, वह तो खानम साहब के साथ ही रहती थीं।

खानम साहब की मिजाजपुरसी के बाद जब मैं अपने घर वापस जाने को हुई, तो जी चाहा कि कमरे से एक भारी जोड़ा निकालती ले चलूं। कमरा खोला, तो देखा कि चारों तरफ जाले लगे हैं, पलंग पर मनों गर्द जमा है, फर्श उलटा पड़ा है, इधर-उधर कूड़ा है। यह हाल देखकर मुझे अपने अगले दिन याद आए। अल्लाह, एक दिन वह था, जब यह कमरा हर वक्त सजा-सजाया रहता था, दिन में चार मर्तबा झाड़ू होती थी, गर्द का नाम न था, तिनका तक दिखाई न देता था। अब

यह हाल है कि दम-भर बैठने को जी नहीं चाहता। नौकर साथ था। मैंने उससे कहा, "जरा जाले तो ले ले।" उसने सफाई कर डाली, दरी बिछाई, चांदनी ठीक की, पलंग का बिस्तर झाड़ा, कायदे से बिछाया। सिंगारदान, पानदान, खानदान, उगलदान साफ कराके सब चीजें अपने-अपने करीने से रखीं, जैसे किसी जमाने में रखी जाती थीं। शीशा सामने रखकर देखने लगी, तो जवानी के दिन याद आए और उन सब लोगों की शक्लें नजर के सामने गुजर गई, जो इस कमरे में आके बैठे थे।

इतने में नौकर ने जोर से एक चीख मारी: बीबी देखिए, वह कनखजूरा आपके दुपट्टे पर चढ़ा जाता है!

'ऊई' कहके मैं उठ खड़ी हुई। जल्दी से दुपट्टा उतारके दूर फेंक दिया। नौकर ने दुपट्टा उठाके झाड़ा, तो कनखजूरा टप्प से जमीन पर गिरा और जल्दी से रेंगकर पलंग के दाहिने पाए के नीचे घुस गया। नौकर ने पलंग उठाया। अब जो देखके ताज्जुब हुआ। मैं हंसी और मुझे एक साथ खयाल आया कि ये वे अशरफियां हैं, जो नवाब सुलतान ने अपने खिदमतगार शमशेर खां की मार्फत पहले दिन पर्चे के साथ भिजवाई थीं और मैंने बुआ हुसैनी से छिपाकर यहां रख दी थीं। तब से जमाना बदल गया, लेकिन पलंग को किसी ने अपनी जगह से न हटाया। गदर में मकान लूटा, लेकिन तो भी यह पलंग यहीं रहा और मेरे क्या-क्या हाल हुए! मुझे नवाब सुलतान की शक्ल याद आई और वे तमाम बातें, जो उस शाम हुई थीं, उसके बाद उनसे मिलना और उनकी वजेदारी!

मैं घर आ गई, तो जिस दिन तय था, कानपुरवाली बेगम साहिबा की महरी सुबह-सुबह बुलाने को आ गई। मैं अभी सोके उठी थी, अच्छी तरह हुक्का भी न पी पाई थी, उसने जल्दी मचाना शुरू कर दिया। मैं सोचे थी कि खाना-दाना करके जाना होगा, महरी ने कहा: बेगम साहिबा ने आपको सर की कसम दी है खाना यहीं आके खाना।

खाना खाके हाथ-मुंह धोया, पान खाया, महरी ने हुक्का लाके लगाया। बेगम ने सबको टाल दिया।

मैं : तुमने मुझे पहचान लिया?

बेगम : जब तुम्हें पहले-पहल कानपुर में देखा था, उसी दिन पहचान लिया था। पहले तो बड़ी देर तक उलझन रही, दिन में कहती थी मैंने इन्हें कहीं देखा है, मगर कहां देखा है, यह याद नहीं आ रहा था। चारों तरफ खयाल दौड़ाती थी, कुछ समझ ही में न आता था। इतने में करीमन महरी पर नजर पड़ी। करीमन के नाम पर मुडीकाटे करीम का नाम याद आ गया। दिल ने कहा कि हो-न-हो, तुम्हें करीम के मकान पर देखा है।

मैं : मेरा भी यही खयाल था। बड़ी देर तक गौर किया की, तब याद आया।

बेगम : अब मेरा हाल सुनों। मैं जब तुमसे जुदा हुई तो नवाब साहब की मां के साथ बिकी। तुम्हें याद होगा, उस वक्त मेरा सिन कोई बारह का रहा होगा। नवाब का सोलहवां बरस था। इनके अब्बा कानपुर में रहते थे। बेगम साहिबा से झगड़ा था। उन्होंने नवाब की शादी अपनी बहन की लड़की के साथ ठहराई थी, जिनका मकान दिल्ली में था। बेगम साहिबा को वह शादी करना मंजूर नहीं था। वह इनकी शादी अपने भाई की लड़की से करना चाहती थीं। अभी यह झगड़ा तय हुआ था कि नवाब के दुश्मनों की तबीयत कुछ खराब हो गई। हकीमों ने कहा, बहुत जल्दी शादी कर दी जाए, वरना पागलपन हो जाएगा। शादी होना तो किसी तरह मुमकिन नहीं था। इतने में मैं आ गई। बेगम साहिबा ने मुझे खरीद लिया।

यह मेरी तरफ झुके और ऐसे झुके कि दोनों शादियों से साफ इनकार कर दिया। थोड़े दिनों के बाद खुदा का करना ऐसा कि बेगम साहिबा चल बसीं और उसके चंद ही दिनों बाद बड़े नवाब भी मर गए। मां-बाप दोनों जायदादवाले थे, यह इकलौते लड़के थे। कुछ दौलत इन्हें मिली। खुदा इन्हें सलामत रखें, इनकी बदौलत बेगम साहिबा बनी बैठी हूं और चैन करती हूं। मुझे इस तरह चाहते हैं, जैसे कोई अपने सहरे-जलसे की बीवी को चाहता है। मेरी जाहिर में तो किसी तरफ निगाह उठाके भी नहीं देखा, यों अपने यार-दोस्तों में जो करते हों। आखिर मर्दजात हैं, कुछ मैं इनके पीछे तो फिरती नहीं। खुदा ने मेरी सब आरजुओं को पूरा किया। औलाद की चाह थी, खुदा के सदके वह भी है। अब अगर आरजू है, तो यह कि खुदा इसे परवान चढ़ाए, बहू ब्याहके लाऊं और पोता खिलाऊं। फिर चाहे मर जाऊं, नवाब के हाथों मिट्टी हो जाए। अब तुम अपना हाल सुनाओं।

जब रामदेई ये बातें कर रही थी, मुझे अपनी किस्मत पर बहुत अफसोस हो रहा था और दिल-ही-दिल में कह रही थी कि अगर तकदीर हो, तो ऐसी हो। एक मेरी फूटी तकदीर थी कि बिकी, तो कहां

Books.Jakhira.com

रंडी के घर में। इसके बाद थोड़े में मैंने अपना हाल सुना दिया। जब ये बातें खत्म हो चुकीं, तो नौकरों को आवाज दी; तबले की जोड़ियां, सितार, तंबूरा, सब साज मंगाया। गाने-बजाने का जलसा होने लगा। जब हम दोनों अकेले थे, तो वह रामदेई थी और मैं अमीरन; सबके सामने वह बेगम साहिबा और मैं उमराव जान। शाम होने तक बड़े मजे की सोहबत रही।

जरा-सी देर के बाद महरी ने पर्दा उठाके कहा:

"बिस्मिलला-अर-रहमान-अरहीम!"

नवाब अंदर दाखिल हुए।

मैंने जो देखा, एक नजर से पहचान गई। यह नवाब सुलतान साहब थे। खयाल हुआ कि किस मौके पर सामना हुआ। नवाब की निगाह मुझ पर पड़ी। पहले तो कुछ झिझके, फिर गौर से मेरी तरफ देखते हुए आगे बढ़े। मैं उनकी तरफ देख रही थी और वह मेरी तरफ। दालान के करीब आए, तो भी बराबर मुझे देखे जा रहे थे।

बेगम : ओई नवाब, देखते क्या हो? वही उमराव जान हैं कानपुरवाली, मैंने इन्हीं का तुमसे तजकिरा किया था।

उपसंहार

न पूछो नामा-ए-आमाल की दिलावेजी

तमाम उम्र का किस्सा लिखा हुआ आया।

(सारी जिंदगी का हाल लिखा हुआ देखकर, अपने किए हुए कामों का चिट्ठा देखकर, दिल को जो तकलीफ पहुंची, उसे न पूछो।)

मिर्जा रुस्वा साहब, जब आपने मेरी जिंदगी के हालात लिखके मसविदा मुझे पढ़ने के लिए दिया, तो मुझे ऐसा गुस्सा आया कि जी चाहता था टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दूं। बार-बार खयाल आया कि जिंदगी में क्या कम काला मुंह हुआ था, जो उसकी कहानी मरने के बाद भी बाकी रहे और लोग पढ़ें और मेरी लानत-मलामत करें? मगर कुछ आपका लिहाज करके हाथ रुक गया।

एकबारगी कल रात बारह बजे के करीब आंख खुल गई। मैं वहां अकेली थी। मामाएं, खिदमतगार सब नीचे सो रहे थे। मेरे सिरहाने लैंप रोशन था। पहले तो मैं देर तक करवटें बदला की। चाहती थी सो जाऊं, मगर किसी तरह नींद न आई। आखिर उठी, पान लगाकर मामा को पुकारा, हुक्का भरवाया, फिर पलंग पर जा लेटी। हुक्का पीने लगी। जी में आया कोई किताब देखूं। इस मसविदे पर हाथ पड़ा, तो गुस्सा आ गया। मैं इसको फाड़ना ही चाहती थी कि मालूम हुआ, जैसे कोई

Books.Jakhira.com

कान में कह रहा है: "अच्छा उमराव, मान लो इसे तुमने फाड़के फेंक दिया, जला दिया, तो इससे क्या होता है? तमाम उम्र के हालात जो इंसाफ करनेवाले खुदा के हुक्म से वहां फरिश्तों ने लिख रहे हैं, एक-एक बात पर हिसाब लिख छोड़ा है, उसे तो न मिटा सकोगी!"

इस गैबी आवाज से हाथ-पांव कांपने लगे। करीब था कि मसविदा हाथ से गिर पड़े। मगर मैंने अपने-आपको संभाला। इसे फाड़ने का खयाल छोड़ दिया; जहां से उठाया था, वहीं रख दिया। फिर एक बार यों ही बिना इरादे के पढ़ना शुरू जो किया, तो मुझे अपनी जिंदगी की कहानी से इतनी दिलचस्पी पैदा हो गई कि आखिर तक पढ़ गई और अपने ऊपर गुजरे हुए हालात के बारे में सोचने लगी। सोचते-सोचते सुबह हो गई। मुंह-हाथ धोकर नमाज पढ़ी और बाद में जाकर फिर लेट रही। नींद आ गई तो सुबह आठ बजे उठी और मुंह-हाथ धोकर फिर पढ़ने बैठ गई।

मैं बहुत दिन तकदीर और तदबीर के मसले में फंसी रही। मगर अपने हालात को क्योंकर भूल सकती हूं! मेरी जिंदगी में काम वही दो हरूफ आए, जो मौलवी साहब ने पढ़ा दिए थे। यह तो हर आदमी के निजी जौहर का जमाना है। अगर आप लायक आदमी हैं, तो आपकी शोहरत होगी। उस जमाने में जब मैं नाच-मुजरा करती थी, तो मौलवी साहब से हासिल किए हुए इल्म की वजह से मेरी शोहरत हुई है। उस वक्त तो मैं बराबर तारीफ करनेवालों से घिरी रहती थी। पढ़ने-लिखने के लिए ज्यादा फुरसत नहीं मिलती थी। लेकिन अब मैं अकेली हूं, तो मौलवी साहब की दी हुई किताबें पढ़ने के शौक की वजह से ही जिंदा हूं। अगर यह शौक न होता, तो जवानी के मातम, पुरानी दिनों के गम और मर्दों की बेवफाई का रोना रोते हुए जिंदगी खत्म हो जाती। उसी तालीम का नतीजा है कि पास जो कुछ जमा है, उसे किफायतशारी से खर्च करती हूं और उसी पर जिंदगी काट लूंगी, किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़ेगा। जिंदगी कट गई तो आगे का अल्लाह मालिक है। अब तो मैं तौबा कर चुकी हूं। जहां तक हो सकता है, रोजे-नमाज की पाबंद हूं। रहती रंडी की तरह हूं, खुदा चाहे मारे, चाहे जिलाए,

मुझसे पर्दे में घुटकर तो न बैठा जाएगा। मगर मैं पर्देवालियों के लिए दिल से दुआ मांगती हूं, खुदा उनका राज-सुगाह कायम रखे और रहती दुनिया तक उनका पर्दा रहे। जहां तक मेरी बात है, अपने हाल तो यह हैं कि:

मरने के दिन करीब हैं शायद कि ऐ हयात

तुझसे तबीयत अपनी बहुत सीर हो गई।

(ऐ जिंदगी, तुझसे अपनी तबीयत बहुत भर गई, अब मरने के दिन नजदीक हैं।)